व्याख्याकार : दयानंद वर्मा

श्रीमद्भगवद्गीता

आधुनिक व्याख्या

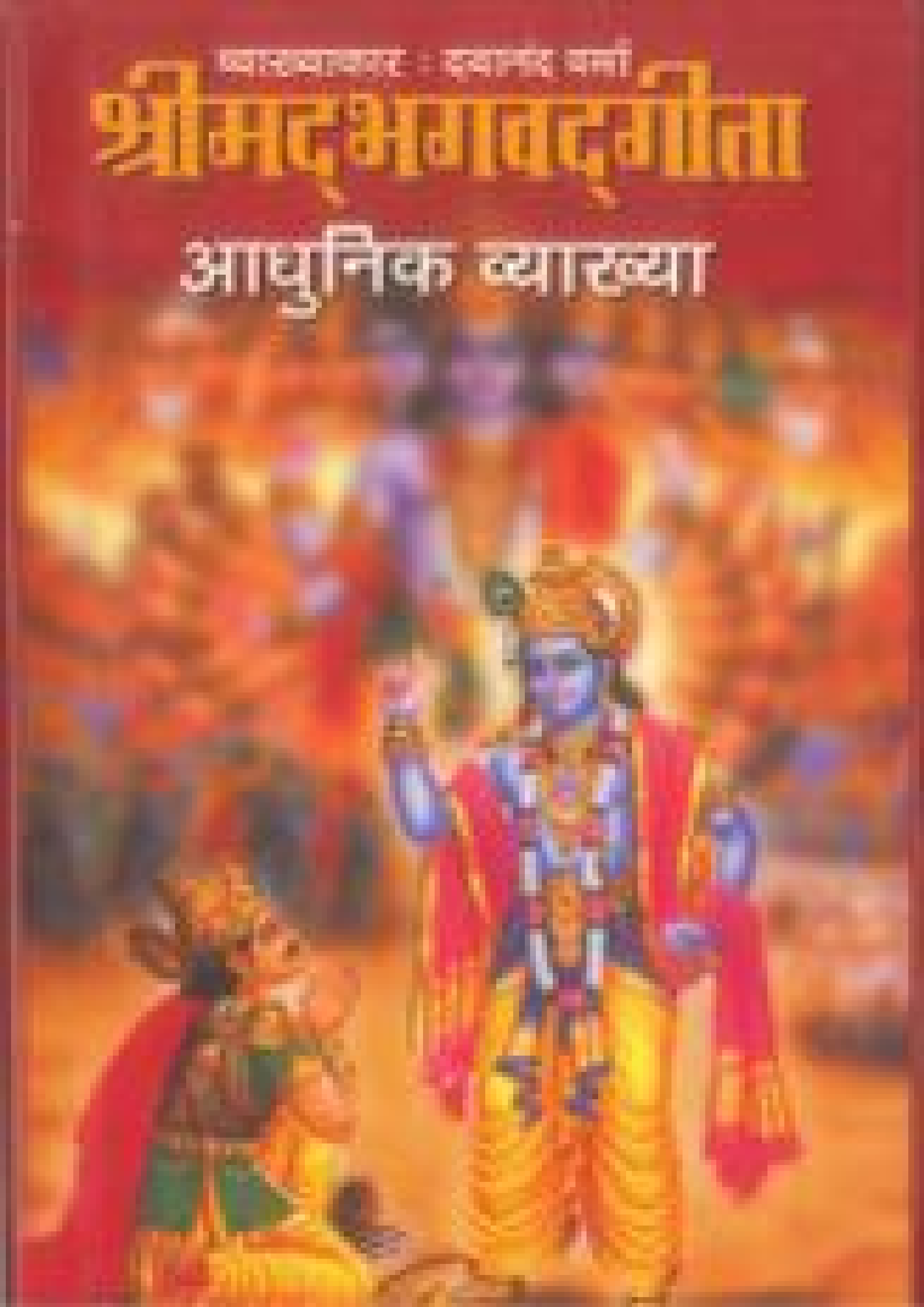

जिस युग में वैदिक साहित्य पढ़ने का अधिकार एक विशेष वर्ग तक सिमित था, उस समय भगवान श्रीकृष्ण ने वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों का सार गीता के माध्यम से अर्जुन को दिया और ज्ञान के द्वार सभी वर्गों के लिए खोल दिये। इस दृष्टि से गीता अपने युग की एक क्रांतिकारी रचना है।

उसी विश्वप्रसिद्ध गीता की आधुनिक प्रसंगों के साथ दयानंद वर्मा की यह व्याख्या पढ़कर आप अनुभव करेंगे कि गीता आज भी उतनी ही नवीन है, जितनी द्वापर युग में थी।

भावार्थ सहित गीता की इस व्याख्या की मुख्य विशेषता यह है कि आप इसे पढ़ते हुए अनुभव करेंगे कि आपके अंतर में छिपे हुए आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर आपको सहज ही मिलते जा रहे हैं और आपके स्वभाव के अनुसार सुख, शांति और मुक्ति का मार्ग आपके सामने स्पष्ट हो रहा है।

गीता की यह व्याख्या: विद्वानों की दृष्टि में

...गीता पर असंख्य टीकाएं हो चुकी हैं, उनमें से अधिकतर में बाहरी विस्तार है। वर्मा जी की व्याख्या में अभिप्राय को समझने की कोशिश है। इस प्रकार की व्याख्या। जो नयी पीढ़ी को उसकी सोच के अनुसार उन्हीं की भाषा में दिशा निर्देश देने की क्षमता रखती हो आज के युग की आवश्यकता हैं। इस स्तुन्य प्रयास की जितनी प्रशंसा की जाए कम है।

कृष्णमुनि प्रभाकर
पीठासीन: श्री सांवलि मूर्ति मंदिर, दिल्ली

...गोस्वामी तुलसीदास ने वाल्मीकि रचित आद्य-काव्य रामायण को जन-भाषा में लिखकर रामकथा को जन-जन तक पहुंचाने का सफल प्रयत्न किया था, वैसा ही कार्य दयानंद वर्मा ने श्रीमद्भगवद्गीता पर अपनी व्याख्या लिख कर किया है। यह पुस्तक आज के युवक को आज की उपभोक्ता संस्कृति से उपजी कुंठा, क्रोध आदि से मुक्त करके उसे शांति प्रदान करेगी और उसे अध्यात्म के मार्ग पर प्रवृत्त करेगी।...

—वेद प्रताप वैदिक, पत्रकार, दिल्ली

...गीता का पाठ मैं बचपन से करती आई हूं किंतु इस पुस्तक का पाठ करते समय मुझे अनुभव हुआ है कि गीता मेरी समझ में पहले की अपेक्षा अधिक आने लगी है। इस व्याख्या द्वारा प्रत्येक श्लोक का संबंध अगले श्लोक से इस प्रकार जोड़ा गया है कि कहीं व्यवधान का अनुभव नहीं होता।...

—आशा रानी
लेखिका एवं पूर्व-अध्यक्ष "अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ", दिल्ली

...दयानंद वर्मा के आध्यात्मिक चिंतन से मैं तब से परिचित हूं जब से वे 'प्रकाशित मन' पत्रिका का संपादन करते थे। गीता पर उनकी व्याख्या से उनका चिंतन प्रखरता से प्रकट हुआ है...

—डा. विजयेन्द्र स्नातक
साहित्यकार एवं पूर्व अध्यक्ष: हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

...गीता भारतीय चिन्तन का सार है और यह व्याख्या उस चिन्तन को समझने समझाने का सफल प्रयास है। मेरा वर्मा जी से अनुरोध है कि ऐसी सरल भाषा में उपनिषदों की व्याख्या भी लिखे...

—डा. पाण्डुरंग राव
पूर्व निदेशक: भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली

श्रीमद्भगवद्गीता

आधुनिक व्याख्या

संस्कृत के मूल पाठ के साथ
सरल हिन्दी भावार्थ
तथा आधुनिक प्रसंगों सहित विस्तृत व्याख्या

व्याख्याकार
दयानंद वर्मा

SHRIMAD BHAGWADGITĀ : ĀDHUNIK VYĀKHYĀ
(HINDU RELIGION)
© दयानंद वर्मा

ISBN 81-904393-0-5

प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान
मांइड एंड बॉडी रिसर्च सेंटर
डब्ल्यू-21, ग्रेटर कैलाश पार्ट–1,
नयी दिल्ली–110048
फोन : 011-29242432/41630337/30823257

लेज़र टाईप सैटिंग :
आर. एस. प्रिंट्स, 40/12 गौतम नगर, नयी दिल्ली–110049

मुद्रक :
आदर्श प्रिंटर्स, C–55, मोहन पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032

संशोधित संस्करण: 2007

क्रम

व्याख्याकार का निवेदन
गीता-ज्ञान की पृष्ठभूमि
पहला अध्याय: अर्जुन विषाद योग
दूसरा अध्याय: सांख्ययोग
तीसरा अध्याय: कर्मयोग
चौथा अध्याय: ज्ञान, कर्म, संन्यास योग
पांचवां अध्याय: कर्मसंन्यासयोग
छठा अध्याय: ध्यान योग
सातवां अध्याय: ज्ञान-विज्ञान योग
आठवां अध्याय: अक्षर ब्रह्म योग
नवां अध्याय: राजविद्या, राजगुह्य योग
दसवां अध्याय: विभूतियोग
ग्यारहवां अध्याय: विश्वरूप दर्शन योग
बारहवां अध्याय: भक्तियोग
तेरहवां अध्याय: क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग
चौदहवां अध्याय: गुणत्रय विभाग योग
पंद्रहवां अध्याय: पुरुषोत्तम योग
सोलहवां अध्याय: दैवासुर संपद् विभाग योग
सत्रहवां अध्याय: श्रद्धात्रय विभाग योग
अठारहवां अध्याय: मोक्ष संन्यास योग

व्याख्याकार का निवेदन

पश्चिमी पंजाब के मुलतान नगर में मेरे पिता श्री गेलाराम जी की पुस्तकों की दकान थी। मुझे उनका आदेश था कि पाठशाला से मैं सीधे दुकान पर पहुंचूं, उसके बाद घर जाऊं।

एक धार्मिक संस्था द्वारा संचालित प्राइमरी पाठशाला, शिष्टाचार आश्रम में मैं पड़ता था। वहां से छुट्टी पाकर सीधे दुकान पर आना मुझे अच्छा लगता था क्योंकि वहां मुझे गणित आदि से अलग अपनी रुचि की पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिलता था। परी कथाओं से यह पठन-यात्रा आरंभ होकर विविध विषयों की पुस्तकों के रूप में अब तक जारी है।

दुकान पर धार्मिक, साहित्यिक तथा ज्ञान-विज्ञान की अनेक प्रकार की पुस्तकें थी। उन सभी पुस्तकों के पृष्ठ पलटने का मुझे अवसर मिलता था। जिस पुस्तक में मुझे जहां अपनी रुचि का अंश दिखाई देता, मैं दुकान के एक कोने में जाकर बैठ जाता और उसे पढ़ने लगता। पढ़ने की इस चाट के कारण मुझे कभी-कभी डांट भी खानी पड़ती।

गीता का मर्म

उन दिनों गीताप्रेस गोरखपुर की गीता के अनेक संस्करण दुकान पर मौजूद थे। उन संस्करणों की अपेक्षा मेरी समझ में आने वाली किशोरदास श्रीकृष्णदास रचित हिन्दी गीता मुझे पसंद थी। इस गीता के माहात्म्य मुझे रुचिकर लगते, गीता के अध्याय मेरे पल्ले नहीं पड़ते थे। उन अध्यायों के अर्थ मैंने पिताजी से समझने चाहे तो उन्होंने कहा, "गीता का मर्म तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि नहीं समझ पाते, तुम क्या समझोगे?" यह सुनकर मैंने पिताजी से तो कुछ नहीं कहा किंतु गीता के प्रति मेरी जिज्ञासा बढ़ गयी। मैं सोचता, गीता में ऐसा क्या है, जिसे समझने के लिए ऋषि-मुनि यत्नशील रहते हैं।

पिताजी से हुई मेरी इस बातचीत को आज आधी शताब्दी से अधिक समय बीत चुका है। पिताजी की गीता के विषय में उक्ति का कारण अब मेरी समझ में आ रहा है। यह कठिनता इसलिए है कि गीता के हर शब्द के पीछे उस युग का इतिहास है। किसी-न-किसी दार्शनिक विचारधारा की पृष्ठभूमि है। गीता को समझने के लिए उस इतिहास को, उस पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।

गीता एक क्रांतिकारी रचना

गीता भगवान श्रीकृष्ण की वाणी से उस समय प्रकट हुई जब विशाल वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष से लोग विमुख हो रहे थे। वेद के नाम पर कर्मकांड पर आधारित सजावटी अनुष्ठानों का प्रचलन था। पुरोहित वर्ग धनी-मानी जनों को स्वर्ग के प्रलोभन देकर तथा नरक के भय दिखाकर, उन्हें अनेक प्रकार के यज्ञों के लिए प्रेरित कर रहा था। यज्ञ की परमार्थ भावना लुप्त हो गई थी अपितु कामनाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ आयोजित किये जा रहे थे। स्वर्ग की कामना ने मोक्ष की कामना को दबा दिया था।

उस युग के प्रबुद्ध जन शक्तिशाली पुरोहित वर्ग को आध्यात्मिकता की ओर उलूघ करने में असमर्थ हो गये थे। वे कर्मकांड से विमुख होने की बजाय कर्म करने से विमुख होने लगे थे और समाज से पलायन करके वनों में जाकर मोक्ष की साधना में लीन हो गये थे। पूरा समाज मानो दो खेमों में बंट गया था। हर खेमे का वासी अन्य की क्रियाओं को सारहीन कह रहा था।

उस युग में वैदिक साहित्य पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार केवल ब्राह्मणों के पास था। वर्ण-व्यवस्था कर्मों के आधार पर नहीं अपितु जन्म के आधार पर मानी जा रही थी। स्त्रिया, वैश्य तथा शूद्र स्वयं को 'पाप योनि' मान रहे थे। उन्हें मोक्ष पाने का रास्ता कोई नहीं सुझा रहा था।

ऐसे समय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को माध्यम बनाकर वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों का सार गीता के रूप में समाज के हर वर्ग को सुलभ कराया और समाज के हर वर्ग के व्यक्ति को उसके स्वभाव और योग्यता के अनुसार, उसे मोक्ष का मार्ग बताया।

इस पृष्ठभूमि को समझ लेने के उपरांत गीता अपने युग की एक क्रांतिकारी रचना प्रतीत होती है। इसमें भारत की सभी प्राचीन विचारधाराओं का समन्वय हुआ है। इस समन्वय में कहीं-कहीं विरोधाभास लगता है किंतु यह समन्वय क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण की अपनी वाणी से हुआ है इसलिए हिंदुओं के सभी मत-मतांतरों में गीता पूजनीय है। और हर मत का पोषक गीता में से अपने मत की पुष्टि के बिंदु खोज लेता है।

शब्दार्थ की जगह भावार्थ

गीता जिस युग में कही गयी थी, उस समय शब्दों के जो अर्थ प्रचलित थे, वे शब्द आज अन्य अर्थों के लिए प्रयोग में लाये जा रहे हैं। उदाहरणत: आज 'पुरुष' शब्द 'नर' के अर्थ में प्रचलित है। प्राचीन काल में पुरुष का अर्थ चेतन तत्त्व था, परमात्मा था। पुरुषोत्तम, पुरुषार्थ आदि शब्द इसी पुरुष शब्द के विस्तार में रचे गये। आज 'काम' शब्द 'सैक्स' तक सीमित रह गया है, उसे युग में 'काम' सभी प्रकार की कामनाओं का प्रतिनिधित्व करता था, सकाम निष्काम आदि शब्द इसीशब्द-परिवार के अंतर्गत आते थे। इसी प्रकार प्रकृति गुण, निगुर्ण, नित्य, अनित्य, विकार, अविकार, सत्य, असत्य, माया, ब्रह्म, योग, तप, यज्ञ, धर्म, भूत आदि शब्दों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। ये सभी शब्द उन दिनों जिन अर्थों के लिए प्रचलित थे आज उन अर्थों के लिए ये प्रयोग में नहीं लाये जाते।

इस वास्तविकता को समझकर मैंने इस पुस्तक में श्लोकों का हिंदी अनुवाद उनके शब्दार्थ के अनुसार नहीं दिया है, बल्कि आज की बोलचाल के अनुसार उन श्लोकों का भावार्थ दिया है। जिस श्लोक की पृष्ठभूमि भावार्थ से स्पष्ट नहीं हुई है, उसकी व्याख्या आधुनिक संदर्भों के साथ मैंने प्रस्तुत की है।

यह व्याख्या लिखते समय मुझे अपने पिताजी की यह उक्ति सत्य प्रतीत होती रही है कि गीता का मर्म समझना अति कठिन है, फिर भी जितना समझ सका हूं, उतना ही उनकी पुण्य स्मृति को समर्पित कर रहा हूं।

दयानंद वर्मा

डब्ल्यू-२१ ग्रेटर कैलाश पार्ट-१
नई दिल्ली ११००४८

गीता-ज्ञान की पृष्टभूमि

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का एक अंश है इसलिए इस ग्रन्थ का मर्म समझने के लिए महाभारत की कुछ घटनाओं को स्मरण करना आवश्यक है ताकि हम जान सकें कि गीता क्यों कही गयी, किन परिस्थितियों में कही गयी।

महाभारत की कुछ मुख्य घटनाएं

वर्तमान दिल्ली से पूर्व की ओर मेरठ के निकट हस्तिनापुर नामक एक छोटा-सा कस्बा है। पुराने समय में यही हस्तिनापुर एक बड़े साम्राज्य की राजधानी था। राजा कुरु इस साम्राज्य के शासक थे।

कुरुवंश में अनेक पीढ़ियों के बाद शांतनु-पुत्र देवव्रत हुआ जो बाद में अपनी भीषण प्रतिज्ञा के कारण भीष्म पितामह कहलाया। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार भीष्म ने जीवनभर विवाह न करने का व्रत लिया और राजगद्दी अपनी विमाता सत्यवती की संतान के लिए छोड़ दी। अत: भीष्म के रहते हुए कुरुवंश का राज्य सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य की मिला।

विचित्रवीर्य की दो रानियां थी—अंबिका और अंबालिका। विचित्रवीर्य से उन दोनों की कोई संतान न हुई तो ऋषि व्यास से नियोग द्वारा अंबिका से धृतराष्ट्र उत्पन्न हुआ और अंबालिका से पांडु ने जन्म लिया।

धृतराष्ट्र ज्येष्ठ था किंतु वह जन्म से अंधा था इसलिए उसे राज-काज के अयोग्य समझ लिया गया और विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरांत हस्तिनापुर की राजगद्दी पर धृतराष्ट्र का छोटा भाई पांडु बैठा।

युधिष्ठिर पांडु का ज्येष्ठ पुत्र था। दुर्योधन धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र था। इन दोनों में से युधिष्ठिर ज्येष्ठ था। पांडु की अकाल मृत्यु के बाद हस्तिनापुर राज्य युधिष्ठिर को मिलना था किंतु पांडु की मृत्यु का समय युधिष्ठिर की आयु केवल सोलह वर्ष की थी इसलिए राज्य के कार्यवाहक राजा धृतराष्ट्र हुए।

धृतराष्ट्र नाममात्र के राजा थे। राज-काज में दखल दुर्योधन का रहता था और दुर्योधन को यह चिंता खाये जाती थी कि युधिष्ठिर के राजगद्दी पर बैठते ही उसका अधिकार छिन जायेगा, इसलिए उसने युधिष्ठिर तथा उसके भाई भीम, अर्जुन नकुल और सहदेव की हत्या करने का कई बार षड्यंत्र रचा किंतु पांचों पांडु-पुत्र हर बार बच गये और इस अवधि में पांचाल देश की राजकुमारी द्रौपदी से पांचों पांडु-पुत्रों का विवाह भी हो गया।

हस्तिनापुर राज्य का विभाजन

धृतराष्ट्र-पुत्रों की दावेदारी जब बहुत अधिक बड़ी तो हस्तिनापुर के अधीन राज्य के दो भाग करने पड़े। जो भाग युधिष्ठिर को मिला, वहां पांडु-पुत्रों ने मिलकर इंद्रप्रस्थ नामक नगर का निर्माण किया और हस्तिनापुर की पुरानी राजगद्दी धृतराष्ट्र-पुत्रों के पास बनी रही।

श्रीकृष्ण पांडु-पुत्रों के पक्ष में थे। उनकी सहायता से इंद्रप्रस्थ राज्य फूला-फला किंतु दुर्योधन को उस राज्य का फूलना-फलना न सुहाया। वह किसी-न-किसी उपाय से पांडु-पुत्रों का राज्य ले लेना चाहता था।

उन दिनों राजाओं में जुए तथा शिकार की प्रथा प्रचलित थी। किसी राज्य की ओर से जुए का निमंत्रण मिलने पर खेलने से इनकार करना, युद्ध में पीठ दिखाने जैसा कायरतापूर्ण कार्य माना जाता था और जुआ युधिष्टिर की कमजोरी थी। इसी कमजोर पक्ष का सहारा लेकर दुर्योधन तथा उसके मामा शकुनि ने युधिष्ठिर का राज्य हड़पने की योजना बनाई और जुए में छल करके, पहले युधिष्ठिर का राजपाट जीत लिया, तत्पश्चात् पांचों पांडु-पुत्रों की जीत लिया और अंत में पांडु-पुत्रों की पत्नी द्रौपदी को भी जीत लिया।

दुर्योधन ने द्रौपदी को भरी सभा में अपमानित करना चाहा किंतु श्रीकृष्ण ने अपने प्रभाव का प्रयोग करके द्रौपदी की लाज बचाई। द्रौपदी ने धृतराष्ट्र से दो वर मांगकर अपने पतियों को दास भाव से मुक्त कराया और पांडु-पुत्रों का राज्य उन्हें वापस दिलाया किंतु युधिष्ठिर फिर जुए कें जाल में फँस गए और जुए की शर्त के अधीन पांचों पांडु-पुत्र तेरह वर्ष के लिए वनवास के लिए चले गये। द्रौपदी उनके साथ गयी।

वनवास की अवधि पूरी होने पर पांडु-पुत्रों ने श्रीकृष्ण द्वारा धृतराष्ट्र से अपना राज्य लौटाने के लिए कहा तौ धृतराष्ट्र की ओर से दुर्योधन ने कहा— "मैं सुई की नोक के बराबर भूमि भी देने के लिए तैयार नहीं हूं।" समझौते के सभी प्रयास जब विफल हो गये तो युद्ध होना निश्चित हो गया और कुरुक्षेत्र की रणभूमि में दोनों पक्षों की सेनाएं इकट्ठी होने लगीं।

सभी कुरुवंशी किंतु. . .

धृतराष्ट्र-पुत्र और पांडु-पुत्र, ये सभी कुरुवंश से थे किंतु कुरुवंश की पुरानी गद्दी धृतराष्ट्र के, अधीन थी, इसलिए 'कौरव' नाम धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्रों के लिए सीमिति हो गया। पांडु-पुत्र 'पांडव' कहलाये जाने लगे। भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के कारण कुरुवंश की गद्दी के संरक्षक बने रहे, वे भी कौरव कहलाये।

रणभूमि में कौरवों की सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी और पांडवों की सात अक्षौहिणी। छोटी सेना के होते हुए भी पांडवों को अपनी विजय का भरोसा था,क्योंकि सोलह कला संपूर्ण श्रीकृष्ण उनके साथ थे।

दिव्य दृष्टि

जिन दिनों कौरव और पांडव रणभूमि में अपनी-अपनी सेनाएं इकट्ठी कर रहे थे? उन दिनों महर्षि व्यास धृतराष्ट्र के पास गए और उन्हें कहा—"संग्राम टल नहीं सकता और इस संग्राम में तुम्हारे कुल का नाश होना है। यदि तुम इस संग्राम को देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर सकता हूं।"

धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया—"अपने कुल का नाश मैं अपनी आंखों से नहीं देखना चाहता किंतु युद्ध का सारा वृत्तांत अवश्य सुनना चाहता हूं।" तब व्यासजी ने धृतराष्ट्र को कहा कि इस दृष्टि के द्वारा संजय युद्ध की सारी घटनाएं देख-सुन सकेगा और तुम्हें यथा समय सुनायेगा।

गीता कब कही गयी?

साधारणत: यह समझा जाता है कि आजकल की क्रिकेट की रनिंग कमेंट्री (Running Commentary) की तरह संजय युद्धभूमि की घटनाएं धृतराष्ट्र को साथ-के-साथ सुनाता गया था। उसीके अंतर्गत गीता भी सुनाई गयी किंतु महाभारत से ज्ञात

होता है कि ऐसा नहीं हुआ।

संजय दिव्य दृष्टि से संग्राम का हाल जान लेता था और धृतराष्ट्र के पूछने पर उसे मुख्य-मुख्य घटनाएं सुना देता था।

युद्ध के दसवें दिन जब भीष्म पितामह घायल होकर गिरे तो संजय ने यह सूचना धृतराष्ट्र को दी। महाभारत में भीष्म पर्व के तेरहवें अध्याय में ऐसा लिखा है।

भीष्म के घायल होकर गिरने का समाचार सुनकर धृतराष्ट्र विचलित हो गया। उसने संजय से युद्ध का पूरा वृतांत सुनाने के लिए कहा। महाभारत में भीष्म पर्व के पच्चीसवें सें बयालीसवें अध्याय में गीता का प्रसंग आया है।

गीता के रचनाकार कौन?

जिन व्यासजी ने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, वे ही महाभारत के रचयिता भी थे। अर्जुन का मोह दूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, उसे दिव्यद्रष्टा व्यासजी ने देख-सुन लिया था।

उन दिनों प्रिंटिंग प्रेस नहीं होते थे। हस्तलिखित पोथियों में ज्ञान सुरक्षित रहता था। और उस ज्ञान का प्रसार श्रुति-स्मृति द्वारा होता था। श्रुति-स्मृति का आशय है सुनकर स्मरण कर लेना। गद्य की बजाय कविता या छंदोबद्ध रचना को स्मरण करना सरल होता है। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश को छंदों में ढालने का कार्य बाद में व्यासजी ने किया।

कुछ शब्द श्रीकृष्ण जी के विषय में

गीता के मूल रचयिता श्रीकृष्ण का जीवन बड़ा अद्‌भुत है। कारागृह में उनका जन्म हुआ। राजकुल के होकर भी वे सामान्य जनों में पले, बड़े। ग्वाल-बालों के संग उनका बचपन बीता, इसलिए उन्होंने सामान्य प्रजा के कष्टों को निकट से देखा, भोगा।

कंस द्वारा किये जा रहे हत्या के षड्यंत्रों से वे सदा बचते रहे। उन्होंने यमुना में प्रदूषण फैलाने वाले नागवंशी कालिय का संहार किया। उस समय के इंद्र के भ्रष्ट होने पर उसकी पूजा बंद करायी और गोवर्धन पर्वत की पूजा आरंभ करायी। वेद के नाम पर होने वाले अवैदिक कर्मकांडों का, विरोध किया और लोक-हित के कार्यों को 'यज्ञ' नाम दिया।

कंस का वध करके उसके सिंहासन पर अपने पिता को नहीं बिठाया, कंस के पिता उग्रसेन को बिठाया। अन्य जहां-जहां दुष्ट राजाओं का संहार किया, वहां-वहां स्वयं सिंहासन पर नहीं बैठे, दुष्ट राजा के कूल के योग्य व्यक्ति को राजा बनाया। स्वयं विंध्याचल पार करके द्वारका में अपना राज्य स्थापित किया।

श्रीकृष्ण का यह सारा चारका एक लीला हैं। लीला से आशय है, अभिनय। जैसे नाटक का एक पात्र एक विशेष चरित्र का अभिनय करता है। उसका अभिनय उसके अपने लिए नहीं होता, दर्शकों के लिए होता है।

जीवन के सभी पक्षों की कड़वी-मीठी सच्चाइयों को देखने-भोगने वाले शरीरधारी ब्रह्म ही सर्वांगसंपूर्ण गीता-ज्ञान देने के अधिकारी हो सकते हैं।

अर्जुन के रथ की बागडोर संभालकर श्रीकृष्ण ने मानो पूरे युद्ध की बागडोर संभाल ली और छोटी सेना द्वारा बड़ी सेना कों पराजित कर दिया।

कुछ गीता के विषय में

अर्जुन को माध्यम बनाकर भगवान ने समस्त मानव जाति को जो उपदेश दिया है, हम उसे 'गीता' के नाम से जानते हैं। गीता से आशय है जो 'गीत' के रूप में हैं। भगवान के मुख से इसका उच्चारण हुआ, इसलिए इसे भगवद्गीता कहते हैं। भगवद्गीता के आरंभ में 'श्रीमद्' लगाकर इसके प्रति आदर का भाव प्रकट किया जाता है।

स्वामी मधुसूदन जी ने गीता के विषय में कहा:—

'सारे उपनिषद् गऊओं के समान हैं। उन्हें दुहने वाला ग्वाला कृष्ण है। उस दूध का प्रथम आस्वादन लेने वाला बछड़ा अर्जुन है। बछड़े से बचे दूध को पान करने वाले अन्य शुद्ध बुद्धि वाले जन हैं।'

इसी 'गीता-ज्ञान' को अपनी समझ के अनुसार आज की प्रचलित शब्दावली में जिज्ञासु जनों तक पहुंचाने का कार्य इस पुस्तक द्वारा हम कर रहे हैं।

पहला अध्याय

अर्जुन विषाद योग

आजकल किसी प्रकरण का मुख्य विषय शीर्षक पर देने की परिपाटी है किंतु गीता के रचना-काल में प्रकरण का मुख्य विषय देने का प्रचलन था। इस सार रूप पंक्ति को 'पुष्पिका' कहते हैं। गीता के पहले अध्याय की पुष्पिका में इस अध्याय का विषय लिखा है, 'अर्जुन विषाद योग'। इस शीर्षक में लगे 'योग' शब्द की व्याख्या पहले करते हैं।

गीता में 'योग' का तात्पर्य

गीता में योग शब्द का प्रयोग बहुत अधिक बार हुआ है और इसके रचयिता श्रीकृष्ण को योगेश्वर कृष्ण भी कहते हैं।

साधारणत: योग का अर्थ पतंजलि के योग-दर्शन के सूत्र से लिया जाता है। योग-दर्शन के अनुसार 'चित्त की वृत्तियों को रोकना योग कहा गया है।'[१] कुछ जन आत्मा के परमात्मा से मिलने को योग कहते हैं किंतु गीता में योग शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण के अपने शब्दों में हम 'योग' का अर्थ खोजते हैं।

गीता के दूसरे अध्याय के अड़तालीसवें श्लोक में भगवान ने कहा है—"सफलता और विफलता में एक समान रहने की अवस्था योग है।"[२] दूसरे अध्याय के पचासवें श्लोक में भगवान ने कहा है—"कर्म में कुशलता योग है।"[३]

कर्म में कुशलता तभी आती है जब व्यक्ति मन, बुद्धि को अन्य सभी ओर से हटाकर एक विषय पर मन-मस्तिष्क को केंद्रित कर दे।

नर्तक जब नृत्य में तन्मय हो जाता है, रचनाकार जब अन्य सभी ओर से इंद्रियों को हटा देता है, वैज्ञानिक अपने परीक्षण में खोया हुआ होता है, ये सब उस समय योग की अवस्था में होते हैं। ईश्वर के प्रति लीन होना भी योग है।

ज्यों-ज्यों हम योग शब्द की गहराई में प्रवेश करते हैं तो ज्ञात होता है 'योग' तटस्थ शब्द है। इस शब्द के साथ लगा विशेषण इस शब्द के अलग-अलग अर्थ देता है। ईश्वर भक्ति में लीन होना, 'भक्तियोग' है। अच्छे कर्मों में अपने-आपको खपा देना 'कर्मयोग' है और किसी विषय की जिज्ञासा के समय अन्य सभी ओर से ध्यान हटा देना 'ज्ञानयोग' है।

इस सारे विवरण का सार यह है कि किसी भी विषय के प्रति एकाग्र होना योग है। एकाग्रता से ही कार्यकुशलता बढ़ती है।

योग की इस व्यापक व्याख्या के उपरांत हम इस अध्याय के शीर्षक पर दृष्टिपात करते हैं। वह है—'अर्जुन विषाद योग'। यहां 'विषाद' के साथ 'योग' का कोई मेल नहीं बैठता। अत: यहां योग का नया अर्थ जुड़ता है—'मुख्य विषय' या 'प्रसंग'। इसी प्रकार आगे गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका या शीर्षक में योग शब्द का अर्थ है, उस अध्याय का मुख्य विषय।

प्रथम अध्याय के आरंभिक भाग में हम देखते हैं कि सेनाओं का वर्णन हो रहा है। यह सब गौण है, मुख्य विषय अर्जुन का विषाद है। विषाद को आज की प्रचलित भाषा में डिप्रेशन (Depression) कह सकते हैं।

इस अध्याय का महत्त्व

इस अध्याय में भगवान कृष्ण ने एक शब्द भी नहीं कहा। अर्जुन ही विषाद की दशा में प्रलाप करता है और भगवान की ओर से कोई उत्तर न पाकर अंत में वह धनुष-बाण का त्याग करता है और रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ जाता है।

युद्ध के आरंभ होने से पहले एक योद्धा का युद्धभूमि के केंद्र में पहुंचकर हौसला छोड़ देना ही गीता की रचना का कारण बनता है। अर्जुन को इस विषाद की अवस्था से निकालने में भगवान ने जीवन के हर क्षेत्र को छुआ है। इसलिए इस अध्याय को विद्वानों ने गीता की भूमिका कहा है।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।१।

भावार्थ : धृतराष्ट्र बोला: हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा के लिए एकत्र हुए मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया: १

व्याख्या : इस श्लोक में कुरुक्षेत्र को धर्मभूमि कहा है। इस भूमि का नाम कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र पड़ने का कारण यह है कि राजा कुरु ने स्वयं हल चलाकर इस भूमि को उपजाऊ बनाया था और इस भूमि के विषय में पुरानी मान्यता थी कि यहां पर मरने वाले सीधे स्वर्ग सिधारते हैं।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसगंम्य राजा वचनमब्रवीत्।२।

भावार्थ : संजय बोला: उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूह-रचना के अनुसार खड़ी पांडवों की सेना को देखा और आचार्य द्रोण के पास जाकर यह कहा: २

व्याख्या : संजय के इस कथन में दुर्योधन के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि हस्तिनापुर के राजा धृतराष्ट्र थे। दुर्योधन को राजा कहकर संजय धृतराष्ट्र को जता रहा हे कि आप तो नाममात्र के राजा हैं, वास्तविक राजा तो दुर्योधन है।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तब शिष्येण धीमता।३।

भावार्थ : हे आचार्य, द्रुपद के पुत्र और आपके बुद्धिमान शिष्य की व्यूह-रचना में खड़ी हुई पांडवों की इस बड़ी सेना को देखिए: ३

व्याख्या : कौरवों की सेना के सेनापति भीष्म थे और पांडव-सेना के सेनापति धृष्टद्युम्न थे। इस श्लोक के अनुसार दुर्योधन सेनापति के पास न जाकर आचार्य द्रोण के पास गया और उनसे पांडवों के सेनापति धृष्टद्युम्न का सीधा नाम नहीं लिया बल्कि द्रुपदपुत्र और आपका बुद्धिमान शिष्य कहा। धृष्टद्युम्न को द्रोण ने कब शिष्य बनाया, इसका प्रसंग हमें कहीं नहीं मिला किंतु गीता के इस श्लोक से प्रतीत होता है कि किसी समय द्रोण ने उसे शिष्य बनाया था। इस व्यंग्य से दुर्योधन द्रुपद से उनकी पुरानी शत्रुता की याद दिला रहा है। उस शत्रुता का विवरण इस प्रकार है:—

राजकुमार द्रुपद और बालक द्रोण शिक्षाकाल में गुरुभाई और मित्र थे। समय आने पर द्रुपद पांचाल देश का राजा बना, द्रोण निर्धन बना रहा। एक बार दरिद्रता से तंग आकर द्रोण द्रुपद के पास गया और पुरानी मित्रता का स्मरण दिलाकर उससे धन की

सहायता चाही। द्रुपद ने राजमद में चूर होकर द्रोण को मित्र मानने से इन्कार कर दिया। द्रुपद के इस व्यवहार से द्रोण के मन में उसके प्रति बदले की भावना जागी।

द्रोण का भी समय आया। वह कौरवों और पांडवों को शस्त्र-विद्या सिखाने के लिए आचार्य नियुक्त हुआ। अपने शिष्यों की शिक्षा पूरी होने पर द्रोण ने अपने शिष्यों द्वारा राजा द्रुपद पर चढ़ाई कर दी और द्रुपद का राज्य छीनकर उसे मुक्त किया और आधा राज्य लौटा दिया।

राजा द्रुपद ने इस अपमान का बदला लेने के लिए ब्राह्मणों को बुलाया। उन्हीं के परामर्श से उसने एक यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ का उद्देश्य ऐसी संतान उत्पन्न करना था, जो द्रोण का वध कर सके। उसी यज्ञ से धृष्टद्युम्न उत्पन्न हआ। कृष्णा नामक एक कन्या भी यज्ञ से उत्पन्न हुई, जो बाद में द्रौपदी कहलाई।

द्रोण की अर्जुन पर विशेष कृपा थी। इस भाव को घटाने के उद्देश्य से दुर्योधन सेनापति भीष्म के पास नहीं गया, द्रोण के पास गया। उससें धृष्टद्युम्न का सीधा नाम न लेकर द्रुपदपुत्र कहा और 'आपका बुद्धिमान शिष्य' कहकर: यह व्यंग्यं कसा कि आपका वध करने के उद्देश्य से जिस धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ है, उसे आपने पहले तो शिष्य बनाया था और अब उसे पांडवों ने अपना सेनापति बनाया है। दुर्योधन के इस कथन का परोक्ष भाव यह है कि एक बार आप भोलेपन में अपने घोर शत्रु को शिष्य बना चुके हैं, अब उसी को पांडवों ने सेनापति बनाकर आपकी मृत्यु का निश्चित प्रबंध कर लिया है इसलिए पांडवों के प्रति अपने मन में कोई कोमल भावना न रखें। अगले श्लोकों में दुर्योधन पांडव-पक्ष के महारथियों का विवरण देता है—

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ:।४।
धृष्टकेतुश्चेकितान: काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगव:।५।
युधामन्युश्य विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।६।

भावार्थ : पांडवों की इस सेना में बहुत शूरवीर, बड़े धनुषधारी, भीम तथा अर्जुन के तुल्य योद्धा हैं। जैसे युयुधान सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित्, कुंतिभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, वीर युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यू और द्रौपदी के पुत्र, ये सब महारथी हैं: ४, ५, ६

व्याख्या : महारथी पद उन योद्धाओं के लिए प्रयोग में लाया जाता था जिनका रथ बड़ा, हो और जो अकेले दस हजार धनुषधारियों से लड़ने, की सामर्थ्य रखते हों।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तन्ब्रवीमि ते।७।

भावार्थ : हे द्विजश्रेष्ठ, हमारे पक्ष की सेना में जो-जो प्रधान हैं आपकी जानकारी के लिए अब उनके नाम बताता हूं: ७

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजय:।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।८।

भावार्थ : एक तो आप स्वयं। भीष्म पितामह तथा कर्ण। अन्य हैं अश्वत्थामा,

विकर्ण और संग्राम जीतने वाला कृपाचार्य और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा: ८

अन्ये च बहव: शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता:।
नानाशस्त्रप्रहरणा: सर्वे युद्धविशारदा:।९।

भावार्थ : अन्य सभी बहुत से शूरवीर हैं जो शस्त्रों सहित मेरे लिए प्राणों की ममता का त्याग करके आये हैं। ये सब-के-सब युद्ध में चतुर हैं: ९

अपर्याप्तं तदस्माकं बल भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिराक्षितम्।१०।

भावार्थ : भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी यह सेना सब प्रकार से पर्याप्त है और भीम द्वारा रक्षित पांडवों की सेना पर्याप्त नहीं है: १०

अयनेषु च सर्वेषु यथा भागमवस्थिता:।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्त: सर्व एव हि।११।

भावार्थ : अत: अब आप सभी मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह पर डटे हुए सब-के-सब भीष्म की ही सब ओर से रक्षा करें: ११

व्याख्या : दुर्योधन अपने वीरों का परिचय देने के उपरांत भीष्म की रक्षा करने का द्रोण सहित सभी को निर्देश देता है। यह इसलिए कि कौरव सेना के सेनापति भीष्म थे। सेनापति का पतन पूरी सेना का मनोबल गिरा देता है किंतु यहां भीष्म की रक्षा विशेष रूप से करने के पीछे दुर्योधन की एक आशंका है। पांडवों की सेना में शिखंडी नामक व्यक्ति स्त्री-लक्षणों से युक्त था अर्थात् नपुंसक था। भीष्म की प्रतिज्ञा थी कि वह कभी नपुंसक या स्त्री पर बाण नहीं चलायेंगे। दुर्योधन को चिंता खा रही थी कि यदि शिखंडी का भीष्म से सामना हो जायेगा तो भीष्म उस पर शस्त्र नहीं चलायेंगे, तब भीष्म को मारना पांडवों के लिए सहज हो जायेगा। भीष्म एक वरदान के कारण, जब तक वे स्वयं न मरना चाहें, तब तक नही मर सकते थे। किंतु सेनापति का घायल होकर गिरना भी सेना का मनोबल गिरा देता है इसलिए दुर्योधन सबको सावधान कर रहा था कि भीष्म पितामह के निकट शिखंडी को मत आने दो।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्ध: पितामह:।
सिंहनाद विनद्योच्चैः शंख दध्मौ प्रतापवान्।१२।

भावार्थ : इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहे गये दुर्योधन के वचनों को सुनकर कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी भीष्म पितामह ने दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह के नाद के समान गर्जुनयुक्त शंख बजाया: १२

तत: शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखा:।
सहैसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।१३।

भावार्थ : उसके उपरांत शंख, ढोल, नगाड़े, नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उन सबका बड़ा भयंकर शब्द गूंजा: १३

तत: श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधव पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।१४।

भावार्थ : उसके उपरांत सफेद घोड़ों से जुते हुए उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये: १४

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजय:।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशंख भीमकर्मा वृकोदरः।१५।

भावार्थ : हृषीकेश श्रीकृष्ण ने पांचजन्य नामक शंख बजाया। अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। भयानक कर्मी भीम ने पौंड्र नामक महाशंख बजाया: १५

व्याख्या : यहां यह उल्लेखनीय है कि कौरव पक्ष में सबसे पहले भीष्म ने शंख बजाया और पांडव पक्ष में श्रीकृष्ण ने शंख बजाया।

भीष्म कौरवों के सेनापति थे, उन्होंने सर्वप्रथम शंखनाद करके मानो युद्ध की घोषणा कर दी। श्रीकृष्ण पांडवों के सेनापति नहीं थे, मात्र अर्जुन के सारथि थे, पांडवों की ओर से सर्वप्रथम उन्होंने शंख बजाकर भीष्म के युद्धघोष को स्वीकार किया। इससे महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण की मुख्य भूमिको स्पष्ट होती है।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुल-सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।१६।

भावार्थ : कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय नामक शंख, नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाये: १६

व्याख्या : यहां युधिष्ठिर के साथ राजा शब्द का प्रयोग करके संजय ने धृष्टराष्ट्रको यह जताया है कि युधिष्ठिर इस समय बेशक किसी राज्य का स्वामी नहीं है फिर भी राज्य का वास्तविक स्वामी वह ही है।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।१७।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्।१८।

भावार्थ : हे राजा धृतराष्ट्र, धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखंडी धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रों ने और सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्यु ने सब ओर से अपने-अपने शंख बजाये: १७, १८

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।१९।

भावार्थ : इन सब वाद्यों से उत्पन्न हुए भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को गुंजायमान कर दिया और धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये: १९

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।२०।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथ स्थापय मेऽच्युत।२१।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्त्रणसमुद्यमे।२२।

भावार्थ : हे राजा धृतराष्ट्र, उसके उपरांत कपिध्वज अर्जुन ने युद्धभूमि में व्यवस्थित धृतराष्ट्र-पुत्रों को देखकर धनुष उठाकर हृषिकेश श्रीकृष्ण से यह वचन कहा, "हे अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा कीजिए जिससे मैं देख सकूं और जान सकूं कि इस संग्राम में युद्ध करने की इच्छा से कौन-कौन से वीर आये हैं, मुझे किन-

किनसे युद्ध करना है।": २०, २१, २२.

व्याख्या : उन दिनों हर महारथी के रथ पर अपना अलग ध्वज-चिन्ह होता था, जिससे दूर से जाना जा सकता था कि अमुक रथ में कौन-सा वीर बैठा है। अर्जुन के रथ पर जो पताका फहरा रही थी, उस पर कपि अर्थात् हनुमान की आकृति अंकित थी, इसलिए अर्जुन को कपिध्वज कहा गया है।

हृषीकेश का अर्थ है इंद्रियों को जीतने वाला, इसलिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण को हृषीकेश विशेषण से संबोधित किया है। यहां श्रीकृष्ण के लिए दूसरा संबोधन 'अच्युत' आया है। इसका अर्थ है, स्थिर स्वभाव वाला।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागता:।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुर्द्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षव:।२३।

भावार्थ : युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण चाहने वाले जो-जो राजा लोग इस सेना में आये हैं, उन युद्ध करने वालों को मैं देखूंगा: २३

व्याख्या : शत्रुपक्ष के योद्धाओं को जानने की अर्जुन की जिज्ञासा का कारण यह है कि यह युद्ध चचेरे भाइयों से होना था। इसमें दोनों पक्षों के राजा किसी-न-किसी रूप में एक दूसरे के संबंधी थे और उस समय वे सभी पुराने संबंधों को भूलकर केवल मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष के रूप में रणभूमि में आये थे। संबंधों के ये ताने-बाने एक-दूसरे में इतने गुंथे हुए थे कि युद्ध आरंभ होने से पहले एक नजर अपने शत्रु-पक्ष की ओर डालना अर्जुन ने आवश्यक समझा।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।२४।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति।२५।

भावार्थ : संजय बोला: हे धृतराष्ट्र, आलस्य को जीतने वाले अर्जुन के कथनानुसार हृषीकेश श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच भीष्म, द्रोणाचार्य और सभी राजाओं के सामने अपना उत्तम रथ खड़ा करके कहा: "हे पार्थ, इन एकत्र हुए कौरवों को देखो।": २४, २५

व्याख्या : अर्जुन को पार्थ संबोधन का कारण यह है कि उसकी माता कुंती का बचपन का नाम पृथा था। नियमानुसार कुंती के तीन पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन, ये सब पृथापुत्र अथवा पार्थ कहलाने के अधिकारी थे, परंतु गीता में यह संबोधन केवल अर्जुन तक सीमित रहा है।

अब अध्याय का मुख्य विषय आरंभ होता है

अब तक के विवरण के अनुसार अर्जुन के मन में तनिक भी विषाद नहीं है। वह धनुष उठाकर बड़ी दृढ़ता से श्रीकृष्ण को कह चुका है कि दुर्बुद्धि दुर्योधन की ओर से जो योद्धा लड़ने के लिए आये हैं, मैं उन्हें देखना चाहता हूं ताकि मैं जान सकूं किमुझे किन-किनसे लड़ना है। उन्हें देखकर अर्जुन में जो प्रतिक्रिया हुई है, यहीं इस अध्याय का मुख्य विषय है।

तत्रापश्यित्स्थतान् पार्थ: पितृनथ पितामहान्।

आचार्यान्मातुलान्भ्रातृत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।२६।
श्वशुरान सुहृदश्चैव सनेयोरुभयोरपि।
तान्समिक्ष्य स कौन्तेय: सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।२७।
कृपया परयाविष्टो विषदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजन कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।२८।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपयुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।२९।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन:।३०।

भावार्थ : उसके उपरात पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों सेनाओं में तैयार खड़े हुए अपने संबंधियों को देखा कि वहां पिता, पितामह, गुरुजन, मामा भाई, पुत्र, पौत्र और मित्र, ससुर और स्नेही थे। उन संबंधियों को देखकर कुंतीपुत्र अर्जुन ने अति करुणा से भरे हुए उदास स्वर में कहा, "हे कृष्ण, युद्ध की इच्छा से आये अपने इन स्वजनों को एक साथ खड़े हुए देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं। मुंह सूख रहा है, शरीर कांप रहा है और रोंगटे खड़े हो रहे हैं।

हाथ से गांडीव धनुष खिसका जा रहा है और त्वचा भी जल रही है और मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है इसलिए मैं खड़ा रहने में समर्थ नहीं हूं: २६, २७, २८, २९, ३०

व्याख्या : आम बोलचाल में अर्जुन की यह अवस्था विषाद (depression) की अवस्था है। यह अवस्था तब आती है जब व्यक्ति अपने आपको एक ऐसी स्थिति में घिरा पाता है कि जिससे निकलने का उसे मार्ग नहीं मिलता। उस समय भावावेग की वही दशा हो जाती है जो अर्जुन की इस समय हो रही है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।३१।

भावार्थ : हे केशव, मुझे विपरीत लक्षण दिखाई दे रहे हैं। युद्ध में अपनेबंधुओं को मारकर मुझे कोई कल्याण नहीं दिखाई देता: ३१

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नौ राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेने वा।३२।

भावार्थ : हे कृष्ण, मैं विजय नहीं चाहता, और राज्य तथा सुख भी नहीं चाहता। हे गोविन्द, हमें ऐसे राज्य, भोग और जीवन का क्या करना हे: ३२

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगा: सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यकत्वा धनानि च।३३।

भावार्थ : कि जिन बंधुओं के लिए राज्य भोग और सुख की कामना की जाती है, वे सब प्राण और धन की बाजी लगाकर युद्ध करने के लिए खडे हुए हैं: ३३

आचार्या: पितर: पुत्रास्तथैव च पितामहा:।
मातुला: श्वशुरा: पौत्रा: श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।३४।

भावार्थ : ये सब गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा अन्य भी संबंधी जन हैं: ३४

एतान्त हन्तुमिच्छामि घ्नन्तोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।३५।

भावार्थ : हे मधुसूदन कृष्ण, ये सब चाहे मुझे मार डालें तो भी मैं इन्हें नहीं मारना चाहता, चाहे तीनों लोकों का राज्य ही क्यों न मिले, मात्र भूमि का तो कहना ही क्या?: ३५

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।३६।

भावार्थ : हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी। इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा: ३६

व्याख्या : आततायी का अर्थ है—आग लगाने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने वाला, धन लूटने वाला, भूमि पर बलपूर्वक कब्जा करने वाला तथा परस्त्री का अपहरण करने वाला। शास्त्रों में आततायी को मारना कर्तव्य कहा गया है। यहां अर्जुन प्रलाप में आततायियों को मारना पापकर्म कह रहा है।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजन, हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।३७।

भावार्थ : इसलिए हे माधव, अपने बांधव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना हमारे लिए उचित नहीं है, क्योंकि अपने कुटुंब को मारकर हम सुखी नहीं हो सकते: ३७

यद्प्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।३८।

भावार्थ : यद्यपि लोभ से इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है और इनको कुल के नाश और इससे होने वाले दोष का ज्ञान भी नहीं है, न ही मित्रों से द्रोह का पाप उन्हें नजर आता है: ३८

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यभिद्धिर्जनार्दन।३९।

भावार्थ : तो भी हे जनार्दन, हमीं कुल के नाश से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर इस पाप से क्यों न हटें: ३९

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।४०।

भावार्थ : क्योंकि कुल के नाश होने से परंपरागत कुलधर्म नष्ट हो जाते है। धर्म के नाश होने से संपूर्ण कुल को अधर्म दबा लेता है: ४०

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।४१।

भावार्थ : हे कृष्ण, पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दुष्चरित्र हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय श्रीकृष्ण, स्त्रियों की चरित्रहीनता से वर्णसंकर संतानें उत्पन्न होती हैं: ४१

व्याख्या : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पर आधारित वर्ण-व्यवस्था में हर वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण में विवाह करता था। अपने से अन्य वर्ण में विवाह करने या यौन संबंध रखने से जो संतान उत्पन्न होती थी, वह वर्णसंकर संतान कहलाती थी। वर्ण-व्यवस्था के विषय में भगवान कृष्ण अवसर के अनुसार गीता में अपने विचार प्रकट

करेंगे। इस समय भगवान केवल श्रोता बनकर अर्जुन का प्रलाप सुन रहे हैं। यह उस अर्जुन का कथन है जो इसमे पहलें रणभूमि में अनेक बार भीषण नर-संहार कर चुका है। उस समय उसके मन में इस प्रकार वर्णसंकरता के विचार कभी नहीं आये थे। अपने परिवार के जनों को देखकर आये हैं जबकि वर्णसंकरता दोनों स्थितियों में होती है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।४२।

भावार्थ : यह वर्णसंकरता कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाती है क्योंकि इन वर्णसंकर जनों द्वारा पितरों को पिंडदान, श्राद्ध और तर्पण का जल न मिलने से पितरों का पतन हो जाता है, अर्थात् वे नरकवास करते हैं: ४२

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।४३।

भावार्थ : वर्णसंकरता के दोषों के कारण कुलघातियों के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं: ४३

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।४४।

भावार्थ : हे जनार्दन, नष्ट हुए कुल-धर्म वाले मनुष्य का अनंतकाल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है: ४४

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।४५।

भावार्थ : छि: छि:! कितने खेद की बात है कि हम लोग बुद्धिमान होकर भी राज्य-सुख के लोभ में अपने स्वजनों को मारने का घोर पाप करने के लिए उद्यत हुए हैं: ४५

व्याख्या : अर्जुन का यह हताशा-भरा कथन भगवान एक कुशल मनोचिकित्सक की तरह सुन रहे हैं। आज भी मनोचिकित्सा में रोगी को खुलकर कहने का अवसर दिया जाता है कि वह अपने अंदर का सारा गुबार निकाल दे। जब तक रोगी भीतर से पूरा खाली नहीं होता, तब तक उसमें नया विचार भरा नहीं जा सकता। अर्जुन का कथन जारी है:–

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।४६।

भावार्थ : यदि मैं शस्त्र त्यागकर प्रतिरोध न करूं और शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मुझे मार डालें तो ऐसी मृत्यु मेरे लिए कल्याणकारी होगी: ४६

संजय उवाच

एवमुक्तार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।४७।

भावार्थ : संजय बोला: शोक से उद्विग्न मन वाला अर्जुन रणभूमि में इतना कहकर धनुष-बाण को त्याग रथ के पिछले भाग में बैठ गया: ४७

व्याख्या : उस युग में जो रथ युद्ध में प्रयुक्त होते थे, उनमें योद्धा के बैठने की व्यवस्था नहीं होती थी। योद्धाजन खड़े होकर युद्ध करते थे। रथ के पिछले भाग में

अतिरिक्त तीर-कमान तथा शास्त्रों का भंडार रहता था और वहां बैठा हुआ अनुचर आवश्यकतानुसार योद्धा को अस्त्र-शस्त्रादि देता रहता था।

अर्जुन का धनुष-बाण त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठना यह दर्शाता है कि उसने युद्ध न करने का निश्चय कर लिया था।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय:॥ १॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'अर्जुन विषाद योग' नामक पहला अध्याय संपूर्ण हुआ।

योगश्चित्तवृत्ति निरोध:। समत्वं योग उच्यते। योग: कर्मसु कौशलम्।

दूसरा अध्याय
सांख्ययोग

दूसरे अध्याय का मुख्य विषय

इस अध्याय का मुख्य विषय सांख्य है। भारत के प्राचीन छ: वैदिक दर्शनों में कपिल मुनि के सांख्य दर्शन का विशेष महत्त्व है किंतु गीता कपिल के सांख्य की विचारधारा को पूरा-का-पूरा स्वीकार नहीं करती। इसलिए सांख्य के साथ 'योग' लगाकर भगवान नें इसे कपिल के सांख्य से अलग कर दिया है।

पुरुष और प्रकृति का विषय पुराने समय के प्रबुद्ध जनों का प्रिय विषय रहा है। प्रकृति अर्थात् भौतिक तत्त्व, पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व। इस विषय पर सांख्य दर्शन तथा सांख्य कारिका में सूत्र रूप में विचार हुआ है। बाद में विवेक और तर्क पर आधारित विषयों को सांख्य के अंतर्गत मान लिया गया।

आत्मा की अमरता का सिद्धांत इस अध्याय का' मुख्य विषय है, जो इस अध्याय के बारहवें श्लोक से आरंभ होता है। इससे पूर्व के श्लोक इस मुख्य विषय की भूमिका के रूप में हैं।

इस अध्याय में अन्य विषय

आत्मा की अमरता के सिद्धांत के साथ-साथ इस अध्याय में अन्य विषयों को भी लिया गया है। वे विषय हैं:—

१. व्यक्ति के मूल स्वभाव के अनुसार उसका कर्त्तव्य,

२. 'कर्मयोग' का परिचय,

३. स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति के लक्षण,

४. इंद्रियों का और मन का बल।

इस प्रकार इस अध्याय में गीता के मुख्य विषय सूत्र रूप में विद्यमान हैं। अन्य अध्यायों में इन सूत्रों पर विस्तार से चर्चा हुई है।

गीता में 'सांख्य' और 'योग' शब्दों का तात्पर्य

जैसे कि आज भी होता है कि बहु-प्रचलित लंबेके शब्द-समूहों के लघु रूप प्रचलित हो जाते हैं, जैसे कि युनाइटिड नेशंस आर्गेनाईजेशन (United Nations Organisation) को यू. एन. ओ. (U.N.O.) कहते हैं। प्राईम मिनिस्टर को पी. एम. (P.M.) इत्यादि। उन लघु रूपों को उस युग के व्यक्ति समझ लेते हैं जिस युग से वे संबंधित होते हैं, किंतु बाद के युग वालों के लिए उन लघु रूपों का समझना कठिन रहता है। गीता के संदर्भ में 'योग' और 'सांख्य' के साथ भी ऐसा ही हुआ है। गीता जिस काल में कही गयी, उस समय 'कर्म' शब्द से आशय कर्मकांड पर आधारित यज्ञादि अनुष्ठान समझा जाता था। 'कर्म' के साथ 'योग', जोड़कर भगवान ने उसे कर्मकांड से अलग अर्थ दिया।

'कर्म' तो बनिये का भी होता है, बढ़ई और लुहार का भी होता है किंतु 'कर्म' के साथ 'योग' जुड़ने से इसका अर्थ कर्त्तव्य कर्म बनता है जो मोक्ष की ओर ले जाने वाला होता है। गीता के प्राचीन टीकाकारों की मान्यता है कि गीता में जहां अलग से सांख्य शब्द आया है, वहां उसका तात्पर्य सिद्धांत है, तर्क पर आधारित ज्ञान है और जहां अकेला योग आया है, वहां उसका अर्थ कर्मयोग अथवा शुभ या कर्त्तव्य कर्म है। यह

मान्यता ठीक प्रतीत होती है। इसी मान्यत के अनुसार हम इसकी व्याख्या/भावार्थ का निर्वाह कर रहे हैं।

इतनी भूमिका के साथ अब श्लोकों के अनुसार गीता का भावार्थ तथा व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

पहले अध्याय के अंतिम भाग तक भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन का प्रलाप सुनते रहे हैं। जब अर्जुन धनुष-बाण का त्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है तो भगवान पहली बार बोलते हैं।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।१।

भावार्थ : संजय बोला, इस प्रकार करुणा से भरें हुए, आंसुओं से पूर्ण, व्याकुल नेत्रों वाले, शोकयुक्त अर्जुन के वचनों को सुनकर मधुसूदन श्रीकृरष्ण ने कहा: १

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।२।

भावार्थ : भगवान बोले, हे अर्जुन, तुम्हें इस विषम अवसर पर यह अज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ? यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण के अनुसार है, न स्वर्ग सुख सुख देने वाला है न ही कीर्तिदायक: २

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपदयते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।३।

भावार्थ : इसलिए हे पार्थ, नपुंसकों जैसी बातें मत कर। इस प्रकार के कायरता भरे वचन तुझे शोभा नहीं देते। हे परंतप अर्जुन, हृदय की भीरुता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो: ३

व्याख्या : इन दो श्लोकों में निरुत्साहित अर्जुन में उत्साह का संचार करने के लिए भगवान अनेक कड़े शब्दों का प्रयोग करते हैं।

पहला शब्द है 'विषम अवसर'। इसके अंतर्गत यह प्रश्न छिपा हुआ है कि क्या तुझे पहले पता नहीं था कि यदि कौरवों से युद्ध होगा तो दोनों पक्षों की ओर से लड़ने वाले निकट के सगे-संबधी होंगे? जिस समय दुर्योधन ने कहा था कि सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूंगा, उस समय तुम कह सकते थे कि राज्य नहीं देते तो न सही, कहीं जाकर प्रजा बनकर रहेंगे। लड़कर क्या लेना। उस समय तुम्हारा यह निर्णय त्याग के अंतर्गत आता। युद्ध न करने का निर्णय तुम ऐसे समय में कर रहे हो, जब दोनों पक्षों की ओर से सेनाएं डटी हुई हैं। शंखनाद हो चुका है, और तुम शस्त्र छोड़कर बैठ गये हो। इस समय तुम्हारा यह त्याग कायरता की श्रेणी में आता है।

विषम अवसर की इस व्याख्या के उपरांत भगवान उसे दो शब्दों का धक्का लगाते हैं :—

१. नपुंसक
२. परंतप

अर्जुन नरश्रेष्ठ कहा गया है। उर्वशी जैसी स्वर्ग की अप्सरा उससे पुंल्म की भीख

मांगती रही है। चित्रांगदा जैसी हठीली कन्या को अर्जुन अपने पौरुष से प्रभावित कर चुका है। एक संपूर्ण नर अर्जुन को भगवान नपुंसक कह रहे हैं।

परंतप का अर्थ है, शत्रुओं को संताप देने वाला। यह दूसरा धक्का है किए जो अर्जुन शत्रुओं के लिए संताप का कारण रहा है, वह शत्रुओं से भयभीत हो गया है। किंतु अर्जुन का मोह और विषाद अधिक गहरा है। इन कड़े शब्दों को सुनकर कहता है—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोण च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्सयामि पूजार्हावरिसूदन।४।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे मधुसूदन, मैं रणभूमि में भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य पर किस प्रकार बाणों की बौछार करूंगा। हे अरिसूदन श्रीकृष्ण, वे दोनों पूजनीय हैं: ४

व्याख्या : अरिसूदन का अर्थ है, शत्रुओं का संहार करने वाला। भगवान को अरिसूदन विशेषण से संबोधित करके अर्जन परोक्ष रूप से, यह कह रहा है कि आपने धर्म की रक्षा के लिए जिनका संहार किया था, वे समाज के शत्रु थे। आप जिन पर बाणों की बौछार करने के लिए मुझे कह रहे हैं, वे मेरे पूजनीय हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुन्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।५।

भावार्थ : महान् गुरुजनों को मारने की अपेक्षा मैं इस लोक में भिक्षा मांगकर पेट भरना कल्याणकर समझता हूं, क्योंकि गुरुजनों का वध करके उनके लहू से सने धन, राजपाट आदि के भोग को इस लोक में भोगना पड़ेगा: ५

न चैतद्विय: कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिता: प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।६।

भावार्थ : और हम लोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना उचित है तथा यह भी नहीं जानते कि हम उन पर विजय प्राप्त करेंगे। जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं: ६

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽह शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।७।

भावार्थ : मानसिक दुर्बलता के कारण मैं भ्रमित हो गया हूं। मेरा क्या धर्म है और मेरे लिए क्या कल्याणकारी है, यह मुझे कहो। मैं आपका शिष्य हूं, शरणागत हूं। मुझे शिक्षा दो: ७

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिण्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि-चाधिपत्यम् ।८।

भावार्थ : इस भूमि पर यदि मुझे निष्कंटक संपन्न राज्य मिले तथा देवताओं के स्वर्ग का अधिकार भी मिले तो भी मैं ऐसा कारण नहीं देखता जो इंद्रियों को कष्ट देने वाले इस शोक को दूर कर सके: ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेश: परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव हं।९।

भावार्थ : संजय बोला, हे राजा धृतराष्ट्र, निद्रा को जीतने वाला अर्जुन, इंद्रियों के जीतने वाले श्रीकृष्ण को कहने लगा, हे गोविंद, मैं युद्ध नहीं करूंगा। यह स्पष्ट निश्चय प्रकट करके अर्जुन चुप हो गया: ९

व्याख्या : एक ओर तो अर्जुन भगवान को कह रहा है कि मैं नहीं जानता कि मेरा कर्त्तव्य क्या है? मेरे लिए जो कल्याणकारी है, मुझे बताओ। मैं आपका शिष्य हूं, शरणागत हूं, मुझे शिक्षा दो। इसके साथ ही यह भी निर्णय सुना देता है, मैं युद्ध नहीं करूंगा।

अर्जुन का यह यह सारा कथन एक विक्षिप्त आदमी का प्रलाप है, जौ अपने आपे में नहीं है, जो अपनी कही बातों कों काट रहा हैं। उसकी इस अवस्था की प्रतिक्रिया भगवान पर क्या होती है; यह संजय धृतराष्ट्र से यों वर्णन करता है:

तमुवाच हृषीकेश: प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वच:।१०।

भावार्थ : हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, दोनों सेनाओं के बीच विषाद से भरे अर्जुन को श्रीकृष्ण ने हंसते हुए यह वचन कहा: १०

व्याख्या : ऐसे विषम समय में भगवान अर्जुन पर रुष्ट नहीं हो रहे हैं, बल्कि हंस रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अर्जुन के इस कथन के पीछे उसकी दूर-दृष्टि नहीं है।

आत्मा की अमरता

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:।११।

भावार्थ : भगवान बोले, तू उनके लिए शौक करता है, जिनके लिए शोक करना उचित नहीं है और पंडितों के से वचन कहता है, किंतु पंडित जन उनके लिए शोक नहीं करते जो मर गये हैं या जो जीवित हैं: ११

व्याख्या : गीता का जो सबसे प्राचीन भाष्य मिलता है, वह आदि शंकराचार्य का रचा हुआ है। आदि शंकर ने इसी श्लोक से अपने भाष्य का आरंभ किया है वास्तव में गीता का ज्ञान इसी ग्यारहवें श्लोक से आरंभ होता है। यह ज्ञान है–आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता।

यहां भगवान अर्जुन पर व्यंग्य कसते हैं, तू पंडितों के से वचन कह रहा है।

आजकल हर ब्राह्मण के घर में जन्मे हुए को पंडित कह दिया जाता है। पुराने समय में पंडित उसे कहते थे, जिसने शास्त्रों का तात्पर्य समझ लिया हो, जिसका विवेक जाग्रत हो और जो उचित-अनुचित का निर्णय कुरने में समर्थ हों।

अर्जुन का जीवन एक सैनिक का जीवन रहा है। वह जीवनभर शस्त्र चलाता रहा है। अब मोहजनित कायरता को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए वह शास्त्र बघार रहा है। भगवान उसे कहते हैं, तू विद्वान् नहीं है, विद्वानों जैसी बातें कर रहा है। जो सचमुच के विद्वान् हैं, वे न मरे हुए का शोक करते हैं, न उन जीवित जनों का, जो कि एक दिन मरने वाले हैं, क्योंकि वे यथार्थ को जानते हैं।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।१२।

भावार्थ : क्योंकि न तो ऐसा है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था, अथवा ये राजा लोग नहीं थे। ऐसा भी नहीं कि भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे: १२

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीनों कालों में आत्मा की अमरता की भूमिका बताई है, और कहा है, यह केवल मेरी या तुम्हारी आत्मा की अमरता की बात नहीं है, बल्कि अन्य सभी जीवों की भी यही अवस्था है। मैं, तुम और वे के अंतर्गत सारा जीव समुदाय आ जाता है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।१३।

भावार्थ : देहधारी आत्मा की देह की जैसे बाल्य अवस्था, युवा अवस्था और वृद्धावस्था होती है वैसे ही अन्य देह की प्राप्ति भी होती है। इस विषय में धीर व्यक्ति मोह में नहीं पड़ता: १३

व्याख्या : भगवान दृश्य जगत् का उदाहरण देकर अदृश्य की ओर संकेत कर रहे है। उस अदृश्य को सामान्य व्यक्ति नहीं देख पाता, किंतु धीर व्यक्ति जान लेता है। धीर व्यक्ति से भगवान का आशय है स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति। भगवान कहते हैं कि इतना तो तू भी देख सकता है कि हर व्यक्ति की देह पल-पल बदल रही है। प्रतिपल पुराने ऊतक (Tissues) तथा कोशिकाएं (Cells) मर रही हैं, नयी जन्म ले रही हैं। शैशव की मृत्यु से युवावस्था जन्म लेती है। वृद्धावस्था की मृत्यु से बुढ़ापा जन्म लेता है। बुढ़ापे में जो मृत्यु होती है, उससे जीवन-चक्र रुकता नहीं है, अगले जन्म की तैयारी आरंभ हो जाती है। जो बुद्धिमान् व्यक्ति हैं वे मृत्यु को जीवन की समाप्ति नहीं मानते, बल्कि इस मृत्यु को अगले जन्म की एक निश्चित कड़ी मानते हैं, इसलिए अपने और किसी के जीवन के मोह में रोना-पीटना व्यर्थ है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।१४।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख देने वाले जितने अनुभव है, ये सब इंद्रियों के साथ उनके विषयों के संयोग से उत्पन्न होते हैं, ये अनित्य हैं। हे भरतवंशी अर्जुन, तू इन्हें सहन कर: १४

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने इंद्रियों और उनके विषयों को अनित्य कहा है। बोलचाल की भाषा में नित्य का अर्थ दिन-प्रतिदिन, रोजाना से लिया जाता है। प्राचीन शास्त्रों में नित्य उसे कहा गया है, जो स्थिर हो, स्थायी हो, जो कभी नष्ट न होता हो और सदा बना रहने वाला हो। अनित्य का अर्थ उससे विपरीत है, जो अस्थिर हो, अस्थायी हो, तथा जिसमें परिवर्तन होता रहता हो। पदार्थो में परिवर्तन होता रहता है, देह में भी परिवर्तन होता रहता है। बचपन, बुढ़ापा, मृत्यु सभी अनित्य हैं। आत्मा में परिवर्तन

नहीं होता, उसका चोला बदल सकता है। चोले के भीतर आत्मा नित्य है। इंद्रियां अनित्य हैं। इनके विपयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले दु:ख-सुख भी अनित्य हैं। इंद्रियां दस हैं। पांच ज्ञानंद्रियां और पांच कमेंद्रियां। आंख, नाक, कान, त्वचा और जिहा, ये पांच ज्ञानेंद्रियां हैं। हाथ, पांव, वाक्, गुदा और जनन-अंग, ये पांच कर्मेंद्रिया हैं। इन दस इंद्रियों में जिह्वा ज्ञानेंद्रिय भी है और कर्मेंद्रिय भी है। जब यह स्वाद लेती है, तब यह रसना नामक ज्ञानेंद्रिय होती है जब उच्चारण के समय जिह्वा, कंठ, तालु, दांत, ओंठ पर आघात उत्पन्न करके अनेक प्रकार के स्वर उत्पन्न करती है, उस समय यह वाक् नामक इंद्रिय-होती हैं। यहां इंद्रियों के साथ उनके विषयों का प्रसंग आया हे, अत: इंद्रियों से आशय ज्ञानेंद्रियों से है। जो ज्ञानेंद्रिय जिस अनुभव को ग्रहण करती है, वह अनुभव उस ज्ञानेंद्रिय का विषय कहलाता है।

प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय का विषय इस प्रकार है:–

प्रथम ज्ञानेंद्रिय कान का विषय शब्द है। शब्द मधुर भी हो सकता है, कर्कश भी। दूसरी ज्ञानेंद्रिय त्वचा से स्पर्श का अनुभव होता है। शीत, उष्ण, कोमल, कठोर, ये त्वचा के विषय हैं। तीसरी ज्ञानेंद्रिय नेत्र से तेज अर्थात् प्रकाश का अनुभव होता है। अत: तेज नेत्रों का विषय है। चौथी ज्ञानेंद्रिय रसना का विषय रस अर्थात् स्वाद है। कडुवे-मीठे, तीखे आदि रस रसना से ही ज्ञात होते हैं। पांचवी ज्ञानेंद्रिय नाक से सुगंध-दुर्गंध का ज्ञान होता है। अत: गंध नाक का विषय है।भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि सुख-दु:ख के ये सारे अनुभव ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से आत्मा को होते है। ये ज्ञानेंद्रियां देह का भाग होने के कारण अनित्य हैं। तू इनसे प्राप्त होने वाले अनुभवों को अस्थायी समझकर इन्हें सहन कर।

यं हि न व्यथयत्त्वेते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते।१५।

भावार्थ : हे पुरुषश्रेष्ठ, जिस धीर पुरुष को सुख-दुख व्याकुल नहीं करते, वह अमरता पाने का अधिकारी होता है: १५

व्याख्या : अधिकतर विद्वान् अमरता और मोक्ष को एक समान मानते हैं। इस मान्यता का कारण यह है कि प्राचीन भारतीय मनीषी मृत्यु को अकारण भय (Phobia) कहते रहें हैं, क्योंकि सभी भारतीय दर्शनों में आत्मा की अमरता स्वीकार की गयी है। मोक्ष परमात्मा से मिलने की स्थिति है। परम आत्मा नित्य है, स्थायी है, अमर है, इसलिए अमर आत्मा का अमर परमात्मा में समा जाना मोक्ष है। मोक्ष-प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:।१६।

भावार्थ : असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् सदा विद्यमान है। सत् और असत् के विषय में यह निष्कर्ष तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञात किया है: १६

व्याख्या : सत् वह है, जिसका अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। असत् वह है, जिसका अस्तित्व अन्य किसी पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त 'सत् ' किसी काल, सीमा में बंधा हुआ नहीं है। सदा से है, सदा रहेगा। असत् नाशवान है। आत्मा और परमात्मा सत् हैं क्योंकि ये सदा से हैं, सदा रहेंगे और इंद्रियों सहित देह भौतिक तत्त्वों पर आधारित है और आत्मा पर निर्भर है, इसलिए असत् है। आत्मा के जाने के उपरांत देह

सड़ जाती है, गल जाती है, जल जाती है, इसलिए देह सहित इंद्रियां असत् हैं। इसी बात को व्यापक रूप में आदि शंकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। यहां मिथ्या का अर्थ झूठ नहीं हैं बल्कि नाशवान है। जो आज है, कल नहीं है या कल उसका रूप बदल जाने वाला है, वह सब मिथ्या है। जिन मनीषियों ने साधना द्वारा इस विषय का चिंतन-मनन किया है, उन्हें तत्त्वज्ञानी कहते हैं। अगले श्लोक में इसी बात को भगवान अन्य शब्दों में कह रहे हैं।

अविनाशि तु तद्दीद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कशिचत्कर्तुमर्हति।१७।

भावार्थ : जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, तू उसे नाशरहित जान, इस अविनाशी का नाश करने की किसीकी सामर्थ्य नहीं है: १७

व्याख्या : इससे पहले श्लोक में भगवान ने जिसे सत् कहा है, इस श्लोक में इसका विवरण देते हैं। तात्पर्य यह है कि जगत् में जितने भी दिखाई देने वाले पदार्थ हैं, वे सब एक ही अविनाशी परमात्मा की व्याप्ति के कारण दिखाई दे रहे हैं। तत्वज्ञानी जन देह को भी पदार्थ मानते है। यह जीवित तभी बनती है, जब इसमें परमात्मा का अंश आत्मा निवास करती है। इस आत्मा और परमात्मा को कोई नष्ट नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।१८।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, देहों को धारण करने वाली आत्मा सदा रहने वाली है, अविनाशी है, यह अप्रमेय है अर्थात् आत्मा की अन्य किसी वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती और आत्मा के बिना देह नाशवान है, इसलिए तू युद्ध कर: १८

व्याख्या : भगवान अर्जुन को फिर से याद दिलाते हैं कि मैं यह सारा ज्ञान तुझे इसलिए दे रहा हूं कि तू आचार्य, पितामह आदि की देहों की सीमा के कारण मोहग्रस्त हो रहा है, जबकि इनकी आत्मा अनेक देहों में विचरण करती हुई कुछ काल के लिए इनमें टिकी है, किंतु सदा इसी देह में टिकी रहने वाली नहीं है। जब अविनाशी आत्मा का कोई नाश नहीं कर सकता है, विनाशी शरीर को कोई बचा नहीं सकता है, फिर तू युद्ध करने से क्यों घबराता है? तू युद्ध कर। इसी बात को भगवान अन्य शब्दों में पुन: अगले श्लोक में कह रहे हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते।१९।

भावार्थ : जो व्यक्ति इस आत्मा को मारने वाला समझता है, तथा जो इसे मरा मानता है, वे दोनों अज्ञानी हैं, क्योंकि यह आत्मा न किसीको मारती है न किसीके द्वारा मारी जाती है: १९

व्याख्या : आत्मा, जीवात्मा, देही को संस्कृत व्याकरण में पुंल्लिंग के अनुसार बरता गया है। हिंदी में आत्मा को स्त्रीलिंग माना है। आत्मा के पैहले 'परम' लगाने से व्यापक आत्मा अर्थात् परमात्मा का आभास कराया जाता है। आत्मा के पहले जीव लगाने से शरीर में रहने वाली सीमित आत्मा अर्थात् जीवात्मा का आभास कराया जाता है। जो देह में निवास करे, वह देही है। देह नाशवान है, देही अविनाशी है, यह बात बार-बार कहने के साथ इस श्लोक में एक नयी बात कही है कि यह आत्मा किसीको मारती नहीं है। इस कथन में यह तथ्य छिपा हैं कि मारने वाला अहंकार है, जो प्रकृति

की विशेषता हैं। प्रकृति और अहंकार का प्रसंग विषय के अनुसार आगे आयेगा।

न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्यायं भूत्वा भविता वा न भयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।२०।

भावार्थ : यह आत्मा किसी काल में न तो जन्म लेती है, न ही मरती है। न ही फिर उत्पन्न होती है। यह आत्मा जन्मरहित है। नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मारी जाती: २०

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।२१।

भावार्थ : हे पृथापुत्र अर्जुन, जो व्यक्ति इस आत्मा को अविनाशी स्थायी, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह व्यक्ति कैसे किसीको मरवाता है और कैसे किसीको मारता है: २१

व्याख्या : इन दो श्लोकों में आत्मा की अमरता को भगवान अलग-अलग शब्दों द्वारा बार-बार कह रहे हैं। वे बता रहे है कि जिसे तुम जन्म और मृत्यु समझ रहे हो, वह देह के रूप में जन्म है। आत्मा का जन्म नहीं होता, आत्मा नित्य अर्थात् स्थायी है। आत्मा की अन्य विशेषता हैं कि यह सनातन और पुरातन है, अर्थात् इसके आदि का पता नहीं है। शाश्वत है अर्थात् इसकी निरंतरता बनी हुई हैं। यह जन्म नहीं लेती। आशय यह है कि जिसकी मृत्यु नहीं है, उसका जन्म कैसे संभव है। अव्यय का अर्थ है जिसका व्यय नहीं होता। बार-बार देह धारण करने के उपरांत भी आत्मा घिसकर छोटी-बड़ी नहीं होती। आगे कहते हैं:

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।२२।

भावार्थ : जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही यह आत्मा जीर्ण शरीरों को त्यागकर नये शरीर धारण करती रहती है: २२

व्याख्या : यहां जीर्ण शरीर का अर्थ वृद्ध शरीर नहीं है। यदि इसका अर्थ यही होता तो कोई भी बाल्यावस्था या युवावस्था में नहीं मरता। यहां जीर्ण शरीर का तात्पर्य है कि जो अपने इस जन्म के कर्मों के फल भोग चुका है, वह जीर्ण है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।२३।

भावार्थ : इस आत्मा को शस्त्र काटकर नष्ट नहीं कर सकते, आग इसे जलाकर नष्ट नहीं कर सकती, जल इसे गलाकर नष्ट नहीं कर सकता, वायु इसे सुखाकर नष्ट नहीं कर सकता है: २३

व्याख्या : इस श्लोक में प्रकृति के पांच तत्त्वों में से चार का उल्लेख किया गया है। इन पांच तत्त्वों को पंच भूत कहते हैं। भूत का तात्पर्य है भौतिक तत्त्व (Matter)। वे पांच तत्त्व हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। आकाश सूक्ष्मतम तत्त्व है, जिसमें सभी

तत्त्व विचरते हैं। शेष चार तत्त्वों में पूखी सबसे ठोस है, शस्त्र आदि ठोस पदार्थ आत्मा को काटकर नष्ट नहीं कर सकते। अग्नि तत्त्व इसे जलाकर नष्ट करने में असमर्थ है। जल तत्त्व की विशेषता है गीला करके गलाना, किंतु आत्मा को जल गलाकर नष्ट नहीं कर सकता। वायु की विशेषता सुखाना है किंतु वायु आत्मा को सुखाकर नष्ट नहीं कर सकता। कुल मिलाकर इस आत्मा का विनाश करने में कोई भी भौतिक तत्त्व समर्थ नहीं है। आत्मा की इस अमरता को अगले श्लोक में अन्य शब्दों में भगवान बताते हैं।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।२४।

भावार्थ : इस आत्मा को काटा नहीं जा सकता, इसका दहन नहीं हो सकता, इसे गीला करना संभव नहीं, न ही इसे सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सबके भीतर है, अचल है, स्थिर है और सनातन है: २४

अव्यक्तोऽयमचिन्तयोऽयमविकार्योऽयमुच्चते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।२५।

भावार्थ : यह आत्मा व्यक्त नहीं है। यह आत्मा अचिंत्य है। इस आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। आत्मा की ये विशेषतायें जानकर तेरे द्वारा मृत्यु का शोक करना उचित नहीं: २५

व्याख्या : आत्मा ज्ञानेंद्रियों द्वारा दिखाई नहीं देती, छुई नहीं जा सकती: इसलिए आत्मा को अव्यक्त या अप्रकट कहा है। इंद्रियों द्वारा जाने गये विषयों का संगठन मन करता है। मन के द्वारा अनुभव की जांच बुद्धि करती है। मन और बुद्धि का यह सारा कार्य 'चिंतन' कहलाता है। किंतु मन और बुद्धि उन्हीं विषयों का चिंतन कर सकते हैं जिनका कोई उदाहरण उनके सामने रहा है। आत्मा का किसी अन्य से उदाहरण नहीं दिया जा सकता। इसलिए मन द्वारा उसका मनन नहीं हो सकता। बुद्धि द्वारा उसका चिंतन नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा को अचिंत्य बताया गया है। आत्मा का बुढ़ापा, जवानी, बचपन नहीं होता, इसलिए आत्मा को परिवर्तनहीन वताया हे।

आत्मा की ये सब विशेषताएं बताकर भगवान अर्जुन से कहते हैं कि आत्मा की यह नाशहीन अवस्था समझकर तेरे लिए अपने सगे-संबंधियों के लिए शोक करना उचित नहीं है।

किंतु भगवान अर्जुन की मनःस्थिति भांप लेते हैं। वै पाते हैं कि आत्मा की अमरता पर अर्जुन ध्यान नहीं दे रहा है। वह यह निर्णय करके बैठ गया है कि मुझे युद्ध नहीं करना। इसलिए वे अपनी बात को समझाने के लिए दूसरा उपाय करते है। वे कहते हैं:

अथचैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।२६।

भावार्थ : हे महाबाहो अर्जुन, यदि तू यह मानता है कि आत्मा बार-बार जन्मती है और बार-बार मरती है, तो भी इस विषय में शोक करना उचित नहीं: २६

जातस्य हिं ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।२७।

भावार्थ : क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म लेना निश्चित है। इन दोनों अवस्थाओं का होना जब निश्चित मान लिया गया है तो फिर

शोक क्यों?: २७

व्याख्या : भगवान विपरीत विधि से यह कह रहे हैं कि तुम्हारी अल्पबुद्धि के अनुसार यदि मान लें कि आत्मा शरीर के साथ नष्ट हो जाती है और नये शरीर के साथ नयी आत्मा जन्म लेती है, फिर भी शोक करने की बात नहीं है, क्योंकि जो जन्मा है, उसे मृत्यु से तू बचा नहीं सकता है, जो मरने वाला है, उसे तू जन्म लेने से रोक नहीं सकता, फिर किसलिए तू आचार्य, पितामह आदि के विषय में शोक कर रहा है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।२८।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, सभी प्राणधारी जन्म से पहले अव्यक्त अर्थात् अप्रकट थे, शरीर छोड़ने के उपरांत ये फिर से अव्यक्त अर्थात् अप्रकट हो जाने वाले हैं। केवल मध्य में शरीर धारण करते समय ये दिखाई देते हैं। ऐसे नश्वर शरीरों का शोक क्यों: २८

व्याख्या : सांख्य सिद्धांत में अव्यक्त उसे कहा गया है, जिसे इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता और व्यक्त उसे कहते हैं, जिसे इंद्रियों द्वारा जान सकते हैं।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन—
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।२९।

भावार्थ : कोई विरला ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है और कोई विरला ही आश्चर्य की तरह इस आत्मा को बखान कर सकता है और शायद की कोई हो जो सुनकर आत्मा के तत्त्व: को जान सके: २९

व्याख्या : इससे पहले भगवान कहते हैं कि आत्मा इंद्रियों का विषय नहीं है, इसलिए इसे देखा, सुना, कहा नहीं जा सकता। अब कह रहे हैं कि कोई विरला ही इसे देख, सुन, कह और समझ सकता है।

इस श्लोक द्वारा भगवान अर्जुन को तसल्ली दे रहे हैं कि यदि आत्मा का तत्त्व तेरी समझ में नहीं आ रहा है तो हीनता का अनुभव मत कर। इस आत्मा को देखने के लिए ये नेत्र काम नहीं करते। इसके लिए अंतदृष्टि चाहिए और अंतर्दृष्टि द्वारा जिन्होंने आत्मा को देखी है अर्थात् अनुभव किया है, उन लाखों-करोड़ों में से कोई एक-आध ही ऐसा होता है जो अपने अनुभव का बखान करने में समर्थ हो। और जिसमें अंतर्दृष्टि नहीं है, वह मात्र सुनकर इस आत्मा को समझ नहीं सकता। इसको समझने के लिए साधना चाहिए।

देही नित्यमवध्यौऽय देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।३०।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, सबकी देहों में निरंतर रहने वाली आत्मा का वध नहीं किया जा सकता, इसलिए भौतिक तत्त्वों से निर्मित इन देहों की मृत्यु के लिए तुझे शोक नहीं करना चाहिए: ३०

विषयांतर : आत्मा की अमरता को अनेक प्रकार से बताकर भगवान अगले श्लोक में अर्जुन के क्षत्रिय धर्म अर्थात् सैनिक के कर्त्तव्य का स्मरण कराते हैं।

धर्म/स्वभाव के अनुसार कर्त्तव्य

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।३१।

भावार्थ : अपने धर्म को देखकर भी तुझे युद्ध से डगमगाना नहीं चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से अधिक कल्याणकारी कोई कार्य नहीं है: ३१

व्याख्या : आज धर्म का अर्थ मजहब (Religion) लिया जाता है किंतु गीता में धर्म कहीं कर्त्तव्य के रूप में, कहीं नियम तथा कहीं स्वभाव के रूप में लिया गयाहै। क्षत्रिय से आशय है जो स्वभाव से सैनिक है, उसके लिए युद्ध करना कर्त्तव्य है। यदि कोई सैनिक हत्या के भय से हथियार छोड़ देता है तो सैनिक धर्म का पालन नहीं करता। सेना के नियम के अनुसार वह अपराधी है। सेना में जो सैनिक जितने अधिक योद्धा मारता है, उसके लिए उतना बड़ा सैन्य पदक है। भगवान अर्जुन को सैनिक के कर्त्तव्य की याद दिला रहे हैं क्योंकि आत्मा की अमरता के सारे रहस्य बताने के बावजूद भी अर्जुन युद्ध के त्रिंरा तैयार नहीं हो रहा है। भगवान इस युद्ध को धर्मयुद्ध का नाम दें रहे हैं, यह इसलिए कि:

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिन: क्षत्रिया: पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।३२।

भावार्थ : हे पृथापुत्र अर्जुन, अपने आप प्राप्त हुए इस युद्ध को तू स्वर्ग का खुला द्वार समझ। ऐसा अवसर भाग्यवान क्षत्रिय पाते हैं: ३२

व्याख्या : आगे कर्मयोग के प्रसंग में स्वर्ग-नरक आदि से अनासक्त होकर कर्म करने के लिए भगवान प्रेरणा देते हैं, किंतु अब तक उस ज्ञान को स्वीकार करने की अर्जुन की योग्यता को भगवान नहीं देरव रहे, इसलिए धर्मयुद्ध को स्वर्ग का द्वार कह रहे है। यह बिकुल ऐसा है, जैसे कि छोटे बच्चे को अक्षर ज्ञान देने के लिए 'अ' में 'अनार', 'आ' से 'आम' कहा जाता है। बाद में अनार, आम निरर्थक हो जाते हैं।

भगवान इस युद्ध को अपने आप प्राप्त हुआ स्वर्ग का खुला द्वार कह रहे हैं इसलिए कि इस युद्ध का अवसर दुर्योधन ने दिया है। यदि वह पांडवों को उनके पूरे राज्य के बदले में पांच गांव भी दे देता तो इस युद्ध की नौबत न आती। भगवान आगे कह रहे हैं:

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
तत: स्वधर्म कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।३३।

भावार्थ : और यदि तू धर्मयुक्त इस संग्राम को नहीं करेगा, तेरा स्वधर्म नष्ट होगा, और तेरा अपयश होगा। तू पाप का भागी होगा: ३३

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।३४।

भावार्थ : सब लोग तेरी अपकीर्ति लंबे समय तक करते रहेंगे और एक सम्मानित व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक बुरी है: ३४

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।३५।

भावार्थ : जो महाराथी लोग तुझे बड़ा योद्धा मानते हैं, वे लोग यही समझेंगे कि तू भयतीत होकर संग्राम से हट गया, इससे वे तुझे तुच्छमानेंगे: ३५

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्। ३६।

भावार्थ : और वैरी लोग, तेरे पराक्रम की निंदा करते हुए अशोभनीय शब्दों का प्रयोग करेंगे। वे अपशब्द तेरे लिए अति दुःखदायी होंगे: ३६

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः। ३७।

भावार्थ : विपरीत इसके तू युद्ध करते हुए मारा जाएगा तो स्वर्ग पायेगा, यदि जीत जाएगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इसलिए हे कुंतीपुत्र अर्जुन, तू युद्ध के लिए दृढ़ निश्चय करके खड़ा हो: ३७

व्याख्या : अर्जुन तो आरंभ से ही कह चुका है कि अपने सगे-संबंधियों को मारकर यदि मुझे त्रिलोकी का राज्य मिले, तो भी मैं युद्ध नहीं करूंगा। भिक्षा मांगकर खा लूंगा। अर्जुन के इस कथन को मन में रखकर भगवान कहते हैं कि तुझे सम्मान बनाये रखने के लिए युद्ध अवश्य करना चाहिए।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि। ३८।

भावार्थ : सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को एक जैसा समझकर तू युद्ध के लिए तैयार हो। इस प्रकार युद्ध करने से तुझे पाप नहीं लगेगा: ३८

व्याख्या : क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म की दुहाई जब निष्प्रभावी हो जाती है तो भगवान पाप और पुण्य का वास्तविक स्वरूप समझाने के लिए कहते हैं कि यदि तू निजी लाभ-हानि, जयु-पराजय, सुख-दुःख की दृष्टि से युद्ध न करके कर्त्तव्य भाव से युद्ध करेगा तो तुझे हत्या का पाप नहीं लगेगा क्योंकि तू किसी फूल-प्राप्ति की इच्छा से युद्ध नहीं कर रहा होगा। न्यायाधीश फांसी का आदेश देता है, जल्लाद फांसी लगाता है, वे हत्याकर्मी नहीं होते। वे अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे होते हैं। उनके पापमुक्त होने का कारण यह होता है कि वे अपने हित-अहित, लाभ-हानि का विचार किये बिना कार्य करते हैं, बल्कि अपराधी को सजा देने का कर्त्तव्य निबाह रहे होते हैं। यदि दुर्योधन को दुष्ट मानकर तथा उसके पक्ष के जनों को दुष्ट के साथी मानकर तू युद्ध करेगा तो तेरा कार्य न्यायाधीश की भांति निजी कामना के बिना होगा, इसलिए पाप नहीं लगेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्धया युक्तों यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि। ३९।

भावार्थ : हे पार्थ, अब तक मैंने तुझे सांख्य अर्थात् ज्ञानयोग का दृष्टिकोण बताया है। अब आगे तू कर्मयोग के दृष्टिकोण को सुन। इसे समझकर तू कर्मबंधन से मुक्त होगा: ३९

कर्मयोग की भूमिका

अब तक भगवान सांख्य अर्थात् सिद्धांत पक्ष की दृष्टि से लुर्जन का मोह दूर करते रहे हैं, अब व्यावहारिक पक्ष अर्थात् कर्म की ओर अर्जुन का ध्यान आकृष्ट करते हैं। कर्मयोग की भावना को समझने के लिए हमें महाभारत के समय की सामाजिक स्थिति को ध्यान में लाना पड़ेगा। उन दिनों वेद के नाम पर कर्मकांड का बोलबाला था। वेद के ज्ञानकांड की ओर से सामान्य जन विमुख हो रहे थे और ज्ञानमार्गी कर्मकांड से विमुख होकर अपने कर्त्तव्यों से पलायन करने लगे थे। वे वनों में जाकर उपासना और अध्ययन

में मगन रहते थे। समाज दो भागों में बंट गया था। एक भाग पुरोहितों द्वारा संचालित होता था, वह धनीमानी व्यक्तियों को स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय दिखाकर उन्हें यज्ञ-अनुष्ठान के लिए प्रेरित करता था। उनकी भाषा के अनुसार कर्म का अर्थ कर्मकांड या अनुष्ठान था। वे पुरोहित मीमांसक कहलाते थे। दूसरा वर्ग उन कर्मकांडों के विरोध में संन्यास लेकर हर प्रकार के कार्यों से पलायन करने लगा था। क्रियाशीलता से बचने के लिए उनका तर्क यह था कि कर्म अच्छा करोगे तो उच्च योनि में आकर फल भोगना पडेगा। बुरा करने से नीच योनि में आना पड़ेगा। यह पुनर्जन्म का चक्र कभी नहीं छूटेगा और यदि कोई कर्म नहीं करोगे तो जन्म बंधन से छुटकारा मिल जायेगा।

जिस प्रकार आजकल कला और साहित्य के क्षेत्र में वाद-विवाद चलता है कि कला कला के लिए या कला जीवन के लिए, इसी प्रकार उस समय यह विवाद चलता रहता था कि कर्म का उद्देश्य स्वर्ग-प्राप्ति है या मोक्ष है। मोक्ष के पक्षधर उत्तर-मीमांसक कहे जाते थे, जो बाद में वेदांती कहलाये। ऐसे समय में जब एक वर्ग स्वर्ग के लिए महंगे अनुष्ठान रचा रहा था और दूसरा पक्ष इन सबको निस्सार कहकर संसार से पलायन करके वनों में जा बसा था, उस व्यक्ति की व्यथा वहां कौन समझे जो न तो महँगे अनुष्ठान कर सकता था, न ही अध्ययन करने योग्य उसके पास बुद्धि थी। ऐसा व्यक्ति स्वर्ग या मोक्ष कैसे पाये? भगवान ने इन दोनों पक्षों के मध्य सेतु बनाने के लिए 'कर्म' को कर्मकांड से अलग अर्थ देने के लिए 'कर्मयोग' के नाम से नयी क्रांति का सूत्रपात किया। उस क्रांति का उद्घोष था, मोक्ष पाने के लिए घर-परिवार छोड़कर कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, केवल जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलने की जरूरत है, जो जिस स्वभाव का है, जिसके पास बुद्धि या धन के जितने साधन हैं, उसके लिए उस स्वभाव और साधनों के अनुसार मोक्ष का मार्ग मिल सकता है। स्वर्ग का लोभ भगवान ने अर्जुन को उसकाविषाद दूर करने के लिए आरंभ में दिया है, किंतु जैसे-जैसे अर्जुन भगवान के वचनों की ओर ध्यान देने लगता है, भगवान उसके सामने स्वर्ग की निस्सारता बताते जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग का लोभ पुनः-पुन: जन्म-मरण के बंधन में डालने वाला है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।४०।

भावार्थ : कर्मयोग की भावना से जो भी प्रयत्न किये जाते हैं, वे नष्ट नहीं होते और यदि उनके पालन करने में कोई भूल-चूक रह जाये तो दोष नहीं होता। इस दिशा में किया जाने वाला थोड़ा सा प्रयत्न भी महाभय से रक्षा करता है: ४०

व्याख्या : इन तसलनीभरे शब्दों के पीछे उस समय की कई मान्यताओं का आभास होता है। किसी फल की प्राप्ति के लिए जब कोई अनुष्ठान किया जाता था, उसमें मंत्र-पाठ मैं कोई अशुद्धि रह जाती थी, विधि-विधान में कोई कमी रह जाती थी या विघ्न के कारण अनुग्ठान पूरा न हो पाता था तो भय रहता था कि उसका विपरीत प्रभाव (Side Effect) पड़ेगा। किंतु शुभ कर्म, कर्त्तव्य कर्म करते समय ऐसा कोई भय नहीं रहता। कुछ भाष्यकार यहां महाभय से रक्षा का अर्थ 'जन्म-मृत्यु कु भय स रक्षा' लगाते हे।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यसायिनाम्।४१।

भावार्थ : है कुरुवंशी अर्जुन, कर्मयोग की ओर उन्मुख व्यावसायिक अर्थात्

निश्चयात्मक बुद्धि एक है। कामनाओं के वशीभूत अव्यावसायिक बुद्धि कई प्रकार की होती है: ४१

व्याख्या : यहां व्यवसाय का अर्थ उद्योग-धंधा या व्यापार नहीं है बल्कि व्यवसाय का अर्थ है एक ही लक्ष्य की ओर प्रयत्नशीलता। अव्यावसायिक का अर्थ है अनेक वासनाओं से संचालित डांवांडोल बुद्धि। धन, संपत्ति, यश, स्वर्ग, ये सब वासनाओं के अलग-अलग प्रकार है। बुद्धि को डांवांडोल करने का कारण भगवान अगले तीन श्लोकों में बताते हैं।

यामिमां पुपिता वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित:।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिन:।४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।४३।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते।४४।

भावार्थ : हे पार्थ, वेद के नाम पर लच्छेदार बातें करने वाले अविवेकी जन भुलावा देते हैं कि स्वर्ग का ऐश्वर्य ही अंतिम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति अनुष्ठानों से हो सकती है। उन्हें सुनकर भोगों में आसक्ति रखने वाले व्यक्तियों की निश्चायात्मक बुद्धि अस्थिर होती है। अस्थिर बुद्धि समाधि में स्थिर नहीं होती: ४२, ४३, ४४

व्याख्या : भगवान के इन वचनों से लगता है कि उस युग में वेद का अर्थ केवल चार संहिताओं, ऋक्, यजु, साम और अथर्व तक सीमित नहीं था। बाह्मण-ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद् और दर्शन-ग्रंथ भी वेद के अंतर्गत आते थे। इसके अतिरिक्त हर विद्या के पीछे वेद लगाकर उसका महत्त्व बढ़ाया जाता था। यथा, धुनर्वेद, आयुर्वेद इत्यादि।

जैसे आजकल पश्चिमी देशों में हर विषय कों प्रामाणिक और विज्ञानसम्मत प्रकट करने के लिए विषय के अंत में 'ओलोजी' (Ology) लगाया जाता है। जैसे समाज-विज्ञान Sociology) मनोविज्ञान (Psychology) शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) जंतु-विज्ञान (Zoology) आदि।

भगवान के ये वचन आभास देते हैं कि उनके अवतार काल में स्वर्ग का प्रलोभन देने वाले कर्मकांड ही वेद के नाम पर प्रचालित हो रहे थे और परमार्थ का विषय गौण हो गया था। आज भी बहुत से अनपढ़ व्यक्ति यह कहते मिलते है कि अमुक बात शास्त्री में लिखी है। उनसे यदि छ: वैदिक शास्त्रों के नाम पूछ लिये जायें तो वे नहीं बता पाते। ऐसे ही वेद के नाम पर प्रचलित साहित्य को लक्षित करते हुए भगवान आगे कहते हैं:

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।४५।

भावार्थ : वेदों में तीन गुणों से युक्त प्रकृति का वर्णन हुआ है। तू इन तीनों गुणों से ऊपर उठकर निर्द्वंद्व और त्रिगुणातीत हो जा। पदार्थों की प्राप्ति में यत्न करने तथा उन पदार्थों की रक्षा करने में अपनी शक्ति का अपव्यय मत कर। सदा स्थिर रहने वाली आत्मा में स्थित हो जा: ४५

व्याख्या : इस श्लोक में प्रकृति के तीन गुणों सत्व, रज और तम की ओर भगवान

संकेत कर रहे हैं। यही गुण का अर्थ दुर्गुण का विपरीत नहीं है बल्कि गुण का अर्थ विशेषता है। प्रकृति के ये तीनों गुण बिना चेतन तत्व आत्मा के बेकार हैं। प्रकृति के इन तीनों गुणों का विस्तृत वर्णन चौदहवें अध्याय का प्रमुख विषय है। यहां प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर उठने से भगवान का आशय है कि भौतिकवादसे ऊपर उठ और त्रिगुणातीत होने से आशय है अध्यात्म और आत्मा की ओर उन्मुख हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वत: सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।४६।

भावार्थ : बड़े जलाशय के प्राप्त होने पर जिस प्रकार छोटे जलाशय की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी को वेद की आवश्यकता नहीं रहती: ४६

व्याख्या : यहां भी वेद से भगवान का आशय विशाल वैदिक साहित्य से है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की प्राप्ति के बाद वेदों का प्रयोजन पूरा हो जाता है।
कर्मयोग का विश्लेषण

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।४७।

भावार्थ : तेरा अधिकार कर्म करने तक है। कर्मफल तेरे अधिकार से बाहर है। इसलिए फल की दृष्टि से तू कर्म मत कर, न ही तू ऐसा सोच कि फल की आशा के बिना कर्म क्यों करूं: ४७

व्याख्या : यह श्लोक 'कर्मयोग' का सूत्रमंत्र है। इस सूत्र का विश्लेषण करने से चार तत्त्व मिलते हैं :–

१. कर्म करना तेरे हाथ मैं है।

२. कर्म का फल किसी अन्य शक्ति के हाथ में है।

३. तू कर्म करते समय फलप्राप्ति की आशा मत कर।

४. फल छोड़ने का तात्पर्य यह नहीं कि तू कर्म करना छोड़ दे।

जो व्यक्ति कर्म करते समय उसके फल पर ध्यान केंद्रित करते हैं, उनके तनावयुक्त होने की आशंका अधिक होती है। विपरीत उनके जो कर्म को अपना कर्त्तव्य मानकर क्रियाशील होते हैं, वे तनाव से मुक्त होते हैं। उनको कर्म का फल सामान्यत: मिलता है। यदि फल नहीं मिलता तो उन्हें अधिक निराश नही होना पड़ता। व्यक्ति यह सोचकर हल्का रहता है कि मैंने अपनी तरफ से कर्तव्य पूरा कर दिया, जो फल मिलेगा, उसे प्रभु का प्रसाद समझकर स्वीकार करूंगा। ऐसी मानसिक स्थिति वाले व्यक्ति का कर्म में लगे रहना ही उस व्यक्ति का पुरस्कार होता है। उसे उसीमें शांति मिलती है। दूसरी ओर भगवान अर्जुन को सचेत भी करते हैं कि कहीं तू यह सोचकर निठल्ला हो जाये कि फल की तो आशा नहीं इसलिए कर्म क्यों करें, अत: सचेत करते हैं कि कर्म करना आवश्यक है।

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।४८।

भावार्थ : हे धनंजय अर्जुन, कामना को त्यागकर सफलता और असफलता को एक समान मानकर तू कर्म के प्रति एकाग्र रह। कर्म का फल मिलने और न मिलने में मन की अवस्था एक समान रहे, उसीको समत्व योग अर्थात् कर्मयोग कहते हैं: ४८

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा: फलहेतवः।४९।

भावार्थ : हे धनंजय, फल की आकांक्षा के साथ कर्म निम्न कोटि का है। इसे करने वाले जन दया के पात्र हैं और निश्चयात्मक बुद्धि से निष्काम भाव से किया जाने वाला कर्म श्रेष्ठ है: ४९

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम्।५०।

भावार्थ : निश्चयात्मक बुद्धि युक्त व्यक्ति, अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के कर्मों के फल का भागी नहीं होता। इसलिए तू कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर रख। इसी कुशलता को योग कहते हैं: ५०

व्याख्या : आमतौर पर व्यक्ति अच्छे कर्मों के पुण्य का भागी होना चाहता है किंतु भगवान कहते हैं कि जिस प्रकार बुरे कर्म के लिए पाप का भागी बनना उचित नहीं है, उसी प्रकार पुण्य फल की इच्छा करना भी अनुचित है। इसका कारण भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।५१।

भावार्थ : क्योंकि निश्चयात्मक बुद्धि वाले ज्ञानीजन कर्म का फल त्यागकर जन्मबंधन से मुक्त होकर दु:ख़ रहित मोक्ष पाते हैं: ५१

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बुरे कर्मों के फल के लिए पुन: जन्म लेना पड़ता हैं। जन्म के साथ मरण, सुख़ के साथ दुख लगा रहता है। दु:खरहित अवस्था मोक्ष है, जिससे व्यक्ति जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।५२।

भावार्थ : जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल से पार हो जायेगी, तब तू अनेक प्रकार के मत-मतांतरों से विरक्त हो जायेगा: ५२

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।५३।

भावार्थ : अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में स्थिर हो जायेगी, तब तू कर्मयोगी हो जायेगा: ५३

व्याख्या : यहां समाधि की स्थिरता का अर्थ आलती-पालती मारकर कहीं बैठना नहीं है, बल्कि एकाग्र होना है। मन और बुद्धि को एक जगह टिकाना समाधि है। स्थितप्रज्ञ अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति किसे समझें?

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।५४।

भावार्थ : अर्जुन ने पूछा, हे केशव, समाधि में स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति के क्या लक्षण हैं, वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?: ५४

व्याख्या : मोह के प्रलाप से मुक्त होने के बाद पहली बार अर्जुन यह वचन कहता

है। अर्जुन का यह प्रश्न सूचित करता है कि वह भगवान के वचनों पर ध्यान देने लगा है। वह उदाहरण देखना चाहता है कि हम कैसे जानें कि अमुक व्यक्ति स्थिर बुद्धि वाला है? लक्षण का अर्थ बाहरी वेश-भूषा नहीं, न ही बोलने से तात्पर्य वाणी से है बैठने का अर्थ एक विशेष आसन में बैठना नहीं है और चलने से आशय कदम उठाने से नहीं है। उसकी चारों जिज्ञासाओं का आशय यह है कि स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति का आचरण और व्यवहार कैसा होता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।५५।

भावार्थ : भगवान बोले, जब व्यक्ति मन की कामनाओं को त्यागकर अपने-आपमे संतुष्ट रहता है, उसे स्थिर बुद्धि वाला कहते हैं: ५५

व्याख्या : मन का बाहरी पदार्थों के प्रति उन्मुख होना व्यक्ति को डांवांडोल कर देता है। मन की कामनाओं को नियंत्रित करके बुद्धि की स्थिरता पायी जा सकती है। मन को बाहर से तोड़कर कहां जोड़े? इस प्रश्न का उत्तर भगवान देते है, अपनी आत्मा में जोड़े। आत्मा में जोड़ने की विधि ध्यानयोग के विषय में छठे अध्याय में भगवान बता रहे हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।५६।

भावार्थ : जो दुःखों से व्याकुल नहीं होता, सुखों की लालसा नहीं करता, जिससे प्रीति, भय और क्रोध छूट गये हैं, ऐसा अल्पभाषी मुनि स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है: ५६

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।५७।

भावार्थ : जो राग और द्वेष से रहित है। अनुकूल पाकर प्रसन्न नहीं होता, प्रतिकूल पाकर दुखी नहीं होता, उसकी बुद्धि स्थिर है: ५७

व्याख्या : वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति सुख की चाह होने का भाव राग है और उसके विपरीत भाव द्वेष है। द्वेष का प्रकट रूप कोध है। यदि व्यक्ति राग से मुक्त हो जाये तो द्वेष से स्वयं ही मुक्त हो जाता है क्योंकि राजा के मार्ग में बाधा लाने वाले व्यक्ति से द्वेष होता है। यदि राग ही नहीं रहेगा तो द्वेष कैसे होगा?

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।५८।

भावार्थ : स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति अपनी इंद्रियों को उनके विषयों से इस प्रकार समेट लेता है, जैसे कछुआ इच्छानुसार अपने हाथ-पांवों को समेट लेता है: ५८

व्याख्या : कछुए के उदाहरण से भगवान बता रहे हैं कि कछुआ अपने हाथ-पांवों से काम लेता है किंतु वे अंग उसके नियंत्रण में होते हैं, वह जब चाहे उन अंगो को समेट सकता है, वैसे ही स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों से आवश्यकतानुसार काम तो लेता है किंतु ये इंद्रियां उसके नियंत्रण में होती हैं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।५९।

भावार्थ : इंद्रियों को निराहार रखने से विषयों के प्रति चाह बनी रहती है। ब्रह्म साक्षात्कार से उस चाह की निवृत्ति हो सकती है: ५९

व्याख्या : इस श्लोक में विषयों को इंद्रियों का आहार कहा गया है। अनुकूल स्वर कानों का आहार है, अनुकूल रूप नेत्रों का आहार है, अनुकूल स्पर्श त्वचा का आहार है, अनुकूल भोजन रसना का आहार है और अनुकूल गंध नासिका का आहार है। इन इंद्रियों को बलपूर्वक अपने विषयों से हटाने से इन विषयों की चाह बनी रहती है। यह चाह मिटाने का उपाय है परमब्रह्म से साक्षात्कार।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:।६०।

भावार्थ : हे अर्जुन में इन्द्रियां इतनी बलवान हैं कि बुद्धिमान पुरुष के मन को मथकर बलपूर्वक अपने विषयों की ओर प्रेरित करती हैं: ६०

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।६१।

भावार्थ : इन सब इंद्रियों को वश में करके उन्हें मुझमें एकाग्र कर। जिसकी इन्द्रियां उसके अधीन हैं, वह स्थिर बुद्धि वाला है: ६१

व्याख्या : इस श्लोक द्वारा भगवान अर्जुन पर प्रकट कर देते हैं कि मैं ही मनुष्य के रूप में ब्रह्म हूं। भगवान कहते हैं की इंद्रियों को अपने विषयों से तोड़ने के लिए किसी अन्य विषय में जोड़ना आवश्यक है। वह जोड़ने योग्य विषय ब्रह्म स्वरूप मैं हूं।

इंद्रियों द्वारा संचालित दुष्चक्र

ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजाजते।
सङ्गात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते।६२।
क्रोधाद्भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।६३।

भावार्थ : इंद्रियों के विषयों का चिंतन करने से उन विषयों के प्रति प्रीति उत्पन्न हो जाती है। प्रीति से कामना बढ़ती है। कामना-पूर्ति में बाधा आने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है। मूढ़ता से स्मृति भ्रमित होती है। स्मृति-भ्रम से बुद्धि का नाश होता है। और बुद्धि के नष्ट होने से व्यक्ति का पतन हो जाता है: ६२, ६३

व्याख्या : भगवान कहते हैं कि यदि इंद्रियों को उनके सामान्य विषयों से हटाकर किसी अन्य विषय में न लगाया जाये तो मन, बुद्धि को मथने वाली ये इंद्रियां व्यक्ति को पतन के कगार तक ले आती हैं। जिस प्रकार बारूद के पलीते में एक बार आग लगा दी जाये तो वह पलीता अपनी ज्वलन प्रक्रिया द्वारा विस्फोट करके रहता है, वैसी प्रक्रिया इंद्रियों की भी होती है। इंद्रियों के विषयों का चिंतन इस पलीते का आरंभिक छोर है। पलीते का अंतिम छोर सोचने-समझने वाली बुद्धि का नष्ट होना है। अत: बुद्धि-नाश से बचने का उपाय है इंद्रियों को अपने विषय से रोककर ब्रह्म की और लगाना। इस श्लोक में 'स्मृति' शब्द का तात्पर्य स्मरण-शक्ति (Memory) नहीं है, अपितु मष्तिष्क है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।६४।

भावार्थ : अंत:करण और इंद्रियों को अपने अधीन करके उन्हें राग-द्वेष से हटाकर जो व्यक्ति इंद्रियों के विषय भोगता है, वह अंत:करण की शांति प्राप्त करता है: ६४

व्याख्या : यहां अंत:करण से आशय मन की ओर है। भगवान इंद्रियों और मन की शक्ति को स्वीकार करके कहते हैं, जिस व्यक्ति ने अपने मन को वश में कर लिया है, वह इंद्रियों का भी स्वामी होता हैं। ऐसा व्यक्ति इंद्रियों को राग-द्वेष के थपेड़ों से बचाकर इंद्रियों के विषयों का भोग भी प्राप्त करता है और मानसिक शांति भी पाता है। सारांश यह है कि जो व्यक्ति जीवन के आवश्यक कार्यों के लिए इंद्रियों से काम लेकर बाद में कछुए की तरह अपनी इंद्रियों को समेट लेता है, वह इंद्रियों द्वारा विषयों का भोग करने के बावजूद मानसिक शांति प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।६५।

भावार्थ : इस शांति से उसके दु:खो का अंत हो जाता है। जिसका मन शांत है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है: ६५

व्याख्या : अर्जुन ने भगवान से स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति के लक्षण पूछे थे। वे लक्षण बताने के साथ-साथ भगवान ने अर्जुन को स्थिरबुद्धि होने की प्रक्रिया बता दी है और यह विस्तार से बताया है कि जैसे मन और बुद्धि का एक-दूसरे के साथ कार्यकारण का संबंध है वैसे ही मन और इंद्रियों का भी एरक-दूसरे से कार्यकारण का संबंध है। बुद्धि को स्थिर करने के लिए इन्द्रियों सहित मन को अधीन करना पड़ता है और इद्रियों को अपने सामान्य विषयों से हटाने के लिए मन को एक अन्य विषय देना पड़ता हैं, जो ऊंचा हो, वह विषय आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म है। अन्यथा क्या होता है, यह भगवान अगले श्लोक में बताते है:–

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तसय कुतः सुखम्।६६।

भावार्थ : जो व्यक्ति कर्मयोगी नहीं है, उसकी बुद्धि निश्चायात्मक नहीं है, उसकी कोई आस्था नहीं होती। बिना आस्था के व्यक्ति के मन को शांति नहीं मिल सकती। बिना शांति के सुख नहीं मिल सकता: ६६

व्याख्या : शांति-अशांति मन की अवस्था है। सुख-दु:ख शरीर से संबंधित हैं। भगवान कह रहे हैं कि आस्थाहीन व्यक्ति के मन को शांति प्राप्त नहीं होती। यदि मन अशांत हो तो तन को सुखी बनाने वाले साधन उसे सुख नहीं दे सकते।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।६७।

भावार्थ : जिस इंद्रिय के साथ मन का योग होता है, वह अकेली इंद्रिय बुद्धि को ऐसे डांवांडोल कर देती है, जैसे जल में नाव को वायु डांवांडोल कर देती है: ६७

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।६८।

भावार्थ : इसलिए हे महान् भुजाओं वाले अर्जुन, जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को विषयों से हटाने में समर्थ है, उसकी बुद्धि स्थिर है: ६८

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।६९।

भावार्थ : सामान्य जनों के लिए जो रात्रि है, स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए वह दिन है। सामान्य जन के लिए जो दिन है, तत्त्व के जानने वाले मुनि के लिए वह रात है: ६९

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने आध्यात्मिक व्यक्ति और विलास में डूबे हुए व्यक्ति के अंतर को अलंकारिक भाषा में बताया है। यहां रात का सूर्यास्त से संबंध नहीं है, बल्कि अज्ञान के अंधकार से है। और दिन का सूर्योदय से सबंध नहीं है, बल्कि दिन का अर्थ ज्ञान का प्रकाश है। जो व्यक्ति आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है, अर्थात् अंतर्मुखी हो जाता है, उसको बोलचाल में रस नहीं रहता। मौन उसकी भाषा बन जाती है, इसलिए भगवान ने उसे मुनि कहा है। आशय यह है कि जो आध्यात्मिक जीवन मुनि के लिए सारवान है, वह विलासी व्यक्ति के लिए निस्सार है और जिन पदार्थों के पीछे सामान्य व्यक्ति दौड़ता रहता है, मुनि के लिए वे पदार्थ कोई आकर्षण नहीं रखते।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।७०।

भावार्थ : जैसे समुद्र में सब और से जल के प्रवाह पड़ते रहने पर भी उसके तटबंध नहीं टूटते, वैसी ही उस व्यक्ति की अवस्था है जिसमें सभी कामनाएं समा जाती हैं, किंतु वे कामनाएं उसे अशांत नहीं करतीं और भोगों की कामना से भरे व्यक्ति को शांति नहीं मिलती: ७०

व्याख्या : भगवान ने स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति की उपमा गहरे समुद्र से दी है। समुद्र का जो भाग जितना अधिक गहरा होता है, उसमें उतनी कम लहरें उठती हैं। आत्मतत्त्व में लीन व्यक्ति गहरे समुद्र की भांति होता है, उसमें कामनाएं उठती, समाती रहती हैं किंतु वे उसे अशांत नहीं करती। छिछले तटबंधों पर और नदी-नालों में बाढ़ और तूफान आते रहते है। यह लालसा और कामनाओं से भरे व्यक्ति का उदाहरण है, उसके मन में कामनाओं की लहरें उठ-उठकर उसे अशांत करती रहती हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।७१।

भावार्थ : जो व्यक्ति सभी कामनाओं को त्यागकर, इच्छारहित ममतारहित और अंहकाररहित होकर संसार में विचरण करता है, वह शांति प्राप्त करता है: ७१

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने व्यक्ति के मन को अशांत करने का कारण अंहकार, कामनाएं, इच्छाएं और ममता माना है। यदि व्यक्ति को मन की शांति प्राप्त करनी हो, तो इन कारणों को दूर करना होगा। स्थिरबुद्धि व्यक्ति सभी कुछ करता है, किंतु वह सब कुछ कर्त्तव्य भाव से करता है। बच्चों और पूर्वजों का पालन-पोषण भी कर्त्तव्य भाव से करता है, इसलिए उसमें मोह-ममता नहीं आती। कर्म का फल मिले तो प्रसाद समझकर माथे से लगाता है, इससे वह अहंकार से दूर रहता है। हर कार्य को अनासक्त और निष्काम भाव से करता है, इसलिए लाभ-हानि जीत-हार, उसमें तनाव नहीं लाते। ऐसा व्यक्ति ही शांति प्राप्त कर सकता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।७२।

भावार्थ : हे पृथापुत्र अर्जुन, यह ब्राह्मी अवस्था का चित्रण है। इस अवस्था में पहुंचकर व्यक्ति मोह-जाल में नहीं फंसता। जो व्यक्ति अपने अंतिम समय में ऐसी स्थिति बनाये रखता है, वह ब्रह्मलीन हो जाता है: ७२

व्याख्या : ब्रह्मलीन अवस्था का आशय मोक्ष है। व्यक्ति इच्छाओं, कामनाओं और सगे-संबंधियों से मोह के कारण बार-बार जन्म लेता रहता है। यदि वह कामनायें त्याग दे तो जन्म लेने के लिए कोई आधार नहीं रहता। यही कामनाहीन अवस्था अंत तक बनी रहे तो उसका मोक्ष निश्चित है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्याय:॥२॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'सांख्ययोग' नामक दूसरा अध्याय संपूर्ण हआ।

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

इस अध्याय का विषय तथा भूमिका

कर्मयोग का विषय सूत्र रूप में दूसर े अध्याय में आरंभ हो चुका है। इस अध्याय में इस विषय पर अधिक विस्तार से विचार हुआ है, इसलिए इस अध्याय का मुख्य विषय 'कर्मयोग' है।

इस अध्याय में भगवान ने स्पष्ट किया है कि निष्काम कर्म ही कर्मयोग की श्रेणी में आता है। कामना को भगवान ने निषिद्ध ठहराया है और निष्काम कर्म को यज्ञ की रूप बताया है। स्वधर्म अर्थात् मूल स्वभाव को भगवान ने इस अध्याय में विशेष महत्त्व दिया है। दूसरे अध्याय में भगवान ने सांख्य अर्थात् ज्ञानयोग की विशेष प्रशंसा की थी। उस प्रशंसा को सुनकर अर्जुन ने समझ लिया था कि ज्ञानयोगी बनकर युद्ध से बचने का रास्ता निकल सकता है। उसी सूत्र को पकड़कर अर्जुन के प्रश्न से इस अध्याय का आरंभ होता है।

अपना स्वभाव अपना मार्ग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे जनार्दन, यदि आपके मत के अनुसार ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ है तो हे केशव, मुझे युद्ध जैसे भयंकर कर्म के लिए क्यों प्रेरित करते हैं?: १

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।२।

भावार्थ : आप उलझे हुए वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित कर रहे है, इस विषय में मुझे आप अपना निश्चित मत बताइए, जो मेरे लिए शुभहो: २

व्याख्या : भगवान ने दूसरे अध्याय में ज्ञान और कर्म की तुलना में ज्ञान कोकहीं ऊँचा नहीं ठहराया है बल्कि फल की आशा किये बिना कर्म करते रहने का आदेश दिया है और कहा है कि सफलता-विफलता में सम रहकर कर्म करने वाला स्थिरबुद्धि व्यक्ति योगी है। ऐसे योगी के लक्षण पूछने पर भगवान ने स्थिरबुद्धि व्यक्ति के लक्षण भी बताये हैं।

अर्जुन का यह प्रश्न सूचित करता है कि अर्जुन ने भगवान के कथन में से अपने मन का अर्थ खोज निकाला है। युद्ध से भागने की अपनी तात्कालिक इच्छा को वह मन-ही-मन गुनगुनाता रहा है और जैसे ही भगवान चुप हुए हैं, अर्जुन ने अपनी कामना को भगवान के जिम्मे डालने का यत्न किया है।

भगवान जानते हैं कि अर्जुन का वैराग्य मरघट वैराग्य जैसा क्षणिक है। वह स्वभाव से सैनिक है। उसकी यह वैरागी अवस्था स्थिर रहने वाली नहीं है इसलिए वे अपने कथन को अगले श्लोक में अधिक स्पष्ट करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिनिद्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। ३।

भावार्थ : भगवान ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन, मैंने इस लोक में दो प्रकार की आस्था पहले कही है। सांख्यमार्गियों का ज्ञानयोग पर आस्था रखने से हित होता है और कर्मयोगियों के लिए निष्काम कर्म के प्रति आस्था रखना हितकर है: ३

व्याख्या : भगवान और अर्जुन के संवाद से ज्ञात होता है कि उस समय ज्ञानमार्गी कर्मठ जनों के जीवन को निस्सार कहकर उन्हें मोक्ष के अयोग्य ठहराते रहते थे और कर्मठ जन अपने स्वभाव के कारण सांसारिक जीवन छोड़ नहीं सकते थे और अपने आपको अपराधी अनुभव करतें रहते थे।

अर्जुन को 'निष्पाप' कहकर भगवान उसके मन से अपराध भाव (Guilt Concious) को हटाते हैं। साथ ही व्यक्ति के स्वभाव और प्रवृति के अनुसार उसके लिए हित का मार्ग बताते हैं।

आज का मनोविज्ञान अंतर्मुखी (Introvert) और बहिर्मुखी (Extrovert) शीर्षक से संसार के व्यक्तियों को दो वर्गों में बाँटता है। भगवान का बताया हुआ सांख़्ययोगी कुछ-कुछ अंतर्मुखी से मिलता है और कर्मयोगी बहिर्मुखी जैसा लगता है। फिर भी सभी बहिर्मुखी जनों को हम कर्मयोगी कह सकते ना ही सभी अंतर्मुखी जनों को सांख्ययोगी कहा जा सकता है।

अंतर्मुखी व्यक्ति के सोच-विचार की दिशा षड्यंत्र की ओर भी हो सकती है, बहिर्मुखी की कर्मठता समाजविरोधी कार्य की ओर जा सकती है, किंतु सांख्य और कर्म के साथ जब योग जुड़ जाता है, तो उनके अर्थ में समाज का हित निहित हो जाता है।

भगवान स्वभाव के अनुसार हर प्रवृत्ति के व्यक्ति को उसके उद्धार का उपाय बता रहे हैं। कर्मठ व्यक्ति को एक आसन पर बिठा दीजिए, उसके लिए एक पल के लिए बैठना भारी पड़ेगा। वह पूजा को अनुष्ठान बना लेगा, सत्संग के बहाने अपने मित्रों, संबंधियों को इकट्ठा करेगा। ऐसा करने में उसका मन अधिक लगेगा। वह इस बात पर नजर रखेगा कि उसके द्वारा आयोजित कीर्तन, जगराता, कथा आदि के अनुष्ठान में कौन आया है, कौन नहीं आया इत्यादि। वह मंदिर या मठ बना सकता है, किंतु उस मंदिर में लंबे समय के लिए एकांत में नहीं बैठ सकता। भगवान कहते हैं कि उसका कर्म यदि शुभता की ओर है तो उसी कर्मठता से मोक्ष का मार्ग सुलभ है। विपरीत इसके मननशील व्यक्ति अर्थात् सांख्ययोगी को यह सब ताम-झमेला मालूम होगा। वह कहेगा मेरा मंदिर तो मेरे अंदर है, मुझे कहीं बाहर ईश्वर तलाश करने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने भीतर के आत्मतत्त्व को पहचानकर मोक्ष पा सकता है।

आस्था ज्ञानमार्ग की ओर है, या कर्ममार्ग की और, वह स्थिर होनी चाहिए। किसी भी एक मार्ग के प्रति स्थिर निष्ठा मंजिल तक पहुंचा सकती हैं किंतु अस्थिर निष्ठा कहीं नहीं पहुंचाती, मन को डांवांडोल करके अशांति दे सकती है।

निष्कर्मता असंभव है

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।४।

भावार्थ : कोई व्यक्ति कर्मों को आरंभ न करे या कर्मों का त्याग करने के लिए संन्यास धारण करके बैठ जाये, उससे नैष्कर्म्य सिद्धि नहीं होती: ४

व्याख्या : 'नैष्कर्म्य' शब्द वेदांत के एक संप्रदाय द्वारा प्रचलित शब्द है, जिसका अर्थ है निष्कर्मता। विवरण इस प्रकार है कि पूर्व जन्म के संचित कर्मों का फल इस जन्म में व्यक्ति भोग लेता है। निषिद्ध कर्म न करने से व्यक्ति नरक में नहीं जाता है, काम्य कर्म छोड़ देने से स्वर्ग से छूट जाता है। इससे कर्ममुक्ति मिल जाती है। अत: व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। भगवान कहते हैं कि कोई व्यक्ति कर्म-बंधन से मुक्ति पाने के लिए निष्क्रिय हो जाये तो उसे सिद्धि अर्थात् मोक्ष नहीं मिलता।

तात्पर्य यह है कि कर्म-बंधन से मुक्त होने के लिए कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। कोई कहे कि चलेंगे तो गिरने का भय रहेगा, बैठे रहेंगे या लेटे रहेंगे तो गिरने के भय से मुक्त रहेंगे। इस प्रकार के चिंतन की भगवान प्रशंसा नहीं कर रहे हैं बल्कि भगवान अगले श्लोक में निष्कर्मता को असंभव बता रहे हैं।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।५।

भावार्थ : कोई भी व्यक्ति क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। प्रकृति के गुण सभी को कर्म करने के लिए बरबस प्रेरित करते हैं: ५

व्याख्या : सत्व, रज और तम, प्रकृति के तीन गुण हैं। 'सत्व' ज्ञान की अवस्था है, 'रज' गतिशीलता है, 'तम' विराम की अवस्था है। इन तीनों गुणों की मिली-जुली अवस्था जीवन के लिए आवश्यक है। इन गुणों में से किसी गुण की कम या अधिक मात्रा से व्यक्ति-व्यक्ति में अंतर पड़ता है। रज अधिक होने से व्यक्ति में कर्मठता बढ़ती है, वह रजोगुणी कहलाता है। यदि उसमें सत्व गुण की मात्रा न हो तो वह कर्मठता अंधेरे कुएं की ओर ढकेल सकती है। यदि तम की मात्रा न हो तो उसे नींद नहीं आ सकती। सत्व की अधिक मात्रा से व्यक्ति सतोगुणी कहलाते हैं। यदि उनमें रजोगुण का अभाव हो तो तमोगुण उन पर छा जाता है। रज की तनिक मात्रा उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है और तमोगुण की मात्रा आराम के लिए आवश्यक है।

तम की अधिक मात्रा व्यक्ति को आलसी बना देती है। ऐसे व्यक्ति को नींद अधिक आती है। यदि उसमें सत्व और रज की अल्प मात्रा न हो तो व्यक्ति न तो सोच–विचार कर सकता है न ही अपना जीवन-निर्वाह कर सकता है। ये तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति में कम या अधिक मात्रा में अवश्य रहते हैं।

हमारी पृथ्वी सूर्य के गिर्द चक्कर लगा रही है। सूर्य अपने से बड़े नक्षत्र की परिक्रमा कर रहा है। जिस सृष्टि का एक-एक कण, एक-एक परमाणु नर्तन कर रहा है, उस सृष्टि का मानव नामधारी विशिष्ट प्राणी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। दुकान छोड़ेगा तो आश्रम बनायेगा, परिवार छोड़ेगा तो माला हाथ में ले लेगा। यदि शारीरिक श्रम से बचेगा तो मानसिक श्रम बढ़ जायेगा। आगे भगवान कहते हैं :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।६।

भावार्थ : जो व्यक्ति हठपूर्वक कर्मेंद्रियों को रोककर मन से इंद्रियों के विषयों का चिंतन करता है, वह मूढ़ और ढोंगी है: ६

व्याख्या : हाथ, पैर, मुख, गुदा और जनन-अंग, ये पांच कर्मेंद्रियां (Motor Organs) हैं। पांच ज्ञानेंद्रियां (Sensory Organs) हैं: कान, नामक ज्ञानेंद्रिय का विषय शब्द है, त्वचा का स्पर्श, नेत्रों का रूप, जिह्वा का रस और नाक का विषय गंध है।

भगवान कह रहे हैं कि बाहर जो दिखाई देता है, वह पर्याप्त नहीं है, जब तक भीतर कामना है, बाहर के दमन का लाभ नहीं है, वह ढोंग है, आडंबर है।

अनासक्त कर्म की महत्ता

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।७।

भावार्थ : हे अर्जुन, जो व्यक्ति मन से इंद्रियों को वश में करके अनासक्त होकर कर्मेंद्रियों से कर्म करता है, वह श्रेष्ठ है: ७

व्याख्या : आसक्ति कहते हैं लगाव को। अनासक्ति का अर्थ है, बिना लगाव की अवस्था। लगाव मन की लगन के कारण होता है। कर्मेंद्रियां कर्म करें किंतु मन का उसमें लगाव न हो, ऐसा व्यक्ति कर्मयोगी होता है। यह ढोंगी व्यक्ति के विपरीत अवस्था है। ढोंगी मन से विषयों का चिंतन करता है, कर्मेंद्रियों को रोकता है। कर्मयोगी कर्मेंद्रियों द्वारा कर्म करता है, किंतु लगाव हटा लेता है। वह प्रत्येक कर्म को कर्त्तव्य भाव से करता है। यही अवस्था श्रेष्ठ है। ऐसे व्यक्ति का कर्म एक उपासना जैसा है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।८।

भावार्थ : कर्त्तव्य कर्म तू शास्त्रोक्त भाव से कर। क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। यदि तू कर्म नहीं करेगा, तो तेरे शरीर का निर्वाह नहीं होगा: ८

व्याख्या : जब हम मान चुके है, कि कर्म छोड़ना असंभव है, इसलिए कर्म छोड़ने का विचार त्याग। बिना कर्म के तेरे जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। यदि तू क्षत्रियोचित सैनिक कर्त्तव्य छोड़ेगा तो भिक्षा मांगेगा। भिक्षा मांगना भी तो कर्म है। इससे अच्छा है तू कर्म को लाभ-हानि की दृष्टि से नहीं, बल्कि कर्त्तव्य भाव से कर।

अनासक्त कर्म यज्ञ है

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।९।

भावार्थ : यज्ञ के रूप में किया जाने वाला कर्म बंधन का कारण नहीं होता। आसक्त भाव से किया जाने वाला कर्म बांधता है। इसलिए हे कुंतीपुत्र अर्जुन, तू अनासक्त भाव से, कर्म कर: ९

व्याख्या : कर्म-बंधन से तात्पर्य है, अच्छे या बुरे कर्मों के कारण अच्छी या बुरी योनियों में बार-बार जन्म लेना और मरना। कर्म-बंधन से मुक्ति का आशय है, मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्म में लीन होना। भगवान कहते हैं, कर्म का बंधन कर्मों केकारण नहीं होता, बल्कि इस पर निर्भर होता है कि कर्म किस भावना से किया गया है। यहां भगवान ने आसक्तिरहित कर्म को यज्ञ के समान बताया है।

सामान्यत: आजकल अग्निहोत्र (हवन) को यज्ञ माना जाता है, किंतु यज्ञ का वास्तविक भाव यह है कि सृष्टि के हर वर्ग, हर जीव को उसका भाग देना। इसलिए प्रत्येक आहुति देते समय 'इदं न मम' कहा जाता है, इसका अर्थ है यह मेरा नहीं है, अमुक देव का है। यदि 'इदं न मम' केवल जिह्वा द्वारा रटा हुआ न हो, बल्कि यह भाव मन में धारण किया हुआ हो, तो प्रत्येक कर्म यज्ञ रूप हो जाता है। भगवान यज्ञ को हवनकुंड की सीमा से निकालकर अनासक्त भाव से किये जाने वाले हर कर्म को यज्ञ का

रूप बता रहे हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्वष्टकामधुक्।१०।
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।११।

भावार्थ : प्रजापति ने कल्प के आरंभ काल में यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न करके कहा, इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम्हारी कामनाओं की पूर्ति करने वाला हो। इस यज्ञ के द्वारा तुम देवों का पोषण करो और देव तुम्हारा पोषण करेंगे। एक-दूसरे का पोषण करते हुए तुम इष्ट फल प्राप्त करोगे: १०, ११

व्याख्या : कल्प के आंरभ काल में आदि प्रजापति ब्रह्मा थे। ब्रह्मा परमात्मा की सृजन शक्ति का नाम है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहलाता है।

भगवान का यह कथन अलंकारिक भाषा में है कि ब्रह्मा ने कल्प के आदि काल में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि तुम इस यज्ञ द्वारा वृद्धि प्राप्त करो। इस कथन का भाव है कि सृष्टि के जितने जीव हैं, वे सब ब्रह्मा की प्रजा हैं। पुराने समय में संतानों को प्रजा कहते थे और ब्रह्म ने किसी स्वार्थ से प्रजाओं को नहीं रचा था, यज्ञ भावना से रचा था। यह बात ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक सौ तीसवें सूक्त में अलंकारिक भाषा में कही गयी है।

एक बार सृष्टि-चक्र चलाने के उपरांत इस चक्र को ब्रह्मा ने अपनी संतानों के अधीन करने का आदेश दिया कि संतानोत्पत्ति द्वारा तुम संतानों की वृद्धि करो और इससे सारी प्रजा की कामनाएं पूर्ण होंगी।

देव शब्द कहीं-कहीं दिव्य शाक्तियों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। यथा सूर्यदेव, चंद्रदेव, अग्निदेव, वरुणदेव। कहीं-कहीं देव शब्द से आदरणीय जनों को भी संबोधित किया जाता है। यथा मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव, आचार्यदेवो भव इत्यादि। ब्रह्मा के आदेश का भाव यह है कि सृष्टि का साराव्यापार आदान-प्रदान से चलता है। इस चक्र में कहीं बाधा होने से संतुलन बिगड़ जाता है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।१२।

भावार्थ : यज्ञ द्वारा पोषित देव तुम्हें तुम्हारे प्रिय भोग, पदार्थ देंगे। उनके दिये भोगों को बिना बांटे जो स्वयं भोगता है, वह चोर है: १२

व्याख्या : आज की आय-कर प्रणाली के स्थान पर प्राचीन युग में यज्ञ परंपरा थी। पांच प्रकार के महायज्ञों द्वारा धन की वितरण-व्यवस्था होती थी।

पहला यज्ञ 'ब्रह्म यज्ञ' था, अध्ययन-अध्यापन करना-कराना, ब्रह्म यज्ञ के अंतर्गत था। आज के विश्वविद्यालयों के स्थान पर गुरुकुल, ऋषिकुल, आश्रम इस ब्रह्म यज्ञ के अधीन चलते थे। दूसरा यज्ञ 'देव यज्ञ' था। होम द्वारा वातावरण को सुवासित करके पर्यावरण का संतुलन बनायें रखना इस यज्ञ द्वारा होता था।

मरे हुए पूर्वजों की स्मृति में दान करना, तीसरे महायज्ञ 'पितृ यज्ञ' के अधीन था। जीवित पूर्वजों की सेवा-सत्कार करना भी इस यज्ञ का उद्देश्य था।

चौथा 'नृयज्ञ' के द्वारा अतिथि-सत्कार करना, अनजाने मनुष्यों का पालन-पोषण

करना होता था।

पांचवें 'बलिवैश्व देव यज्ञ' के अंतर्गत समस्त पशु-पक्षियों तथा जीवों के लिए अन्न का एक भाग देने की जिम्मेवारी मानव पर थी।

उन दिनों उपभोक्ता वस्तुएं उत्पन्न करने वाले इतने उद्योग-धंधे नहीं थे जितने आज हैं। कृषि तथा पशु-पालन मुख्य रोजगार थे। इसलिए अन्न का सिक्का ही सबसे बड़ा डॉलर, पौंड था। अत: अन्य पकाने के उपरांत जो व्यक्ति समाज के इन पांच अंगों को भाग दिये बिना भोगता था, वह चोर था। आज की भाषा के अनुसार वह काला धन (Black Money) बनाता था।

श्रीकृष्ण के अवतार काल में यज्ञ के नाम पर होने वाली परोपकार भावना लुप्त हो गयी थी। यज्ञों के नाम पर कर्मकांड और अनुष्ठान प्रचलित हो रहे थे। भगवान ने अनासक्त कर्म को यज्ञ जैसा फल देने वाला बताकर उस काल में परोपकार की प्रेरणा दी है।

ब्रह्मा के इस आदेश को उद्धृत करने के उपरांत भगवान कहते हैं:

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।१३।

भावार्थ : यज्ञ से बचे हुए शेष अंश को खाने वाले सज्जन पापों से मुक्त होते हैं, परंतु जो केवल अपने लिए पकाते हैं, वे पापी हैं: १३

अन्नाद्भवति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।१४।

भावार्थ : संपूर्ण प्राणी अन्न से उपजते हैं, अन्न वर्षा से उपजता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है: १४

व्याख्या : अन्न अनाज तक ही सीमित नहीं है। सभी भक्षण पदार्थ अन्न की श्रेणी में आते हैं। और हर पदार्थ किसी-न-किसी जीव का अन्न है। अन्न खाने ही से नर का शुक्र और मादा का डिंब बनता हैं जो संतानोत्पत्ति के कारण बनते हैं, इसलिए भगवान ने कहा है कि अन्न से ही संपूर्ण प्राणी उपजते हैं और अन्न जल पर निर्भर है, जल का स्रोत वर्षा है। नदियां वर्षा के पानी को इकट्ठा करके सभी क्षेत्रों की जीवनधारा बनती है। उपयोग में आने के बाद शेष बचा पानी समुद्र में उड़ेलती हैं। सूर्यदेव समुद्र से भाप बनाकर बादल बनाते हैं। इस प्रकार वर्षाचक्र चलता है।

वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है। वर्षा को लाने वाला यज्ञ मात्र अग्निहोत्र नहीं है, अपितु वह कर्म है जो पेड़-पौधों की रक्षा करता है। बादलों कों धरती के निकट लाता है। नवीन अनुसंधानों से ज्ञात हो चुका है कि जहां जामुन के पेड़ लगाये जाते हैं, वहां वर्षा अधिक होती है। यहां यज्ञ से भगवान का आशय आज की शब्दावली में पर्यावरण संतुलन (Ecological Balance) बनाये रखना है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।१५।

भावार्थ : कर्म का उद्गम ब्रह्म है और ब्रह्म अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है: १५

व्याख्या : गीता के इस श्लोक का भाव अत्यंत जटिल है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के

एक सौ उन्तीसवें सूक्त 'नासदीय सूक्त' में सृष्टि-रचना से पूर्व की प्रलय अवस्था चित्रित की गयी है और एक सौ तीसवें सूक्त में सृष्टि-रचना को ब्रह्म यज्ञ कहा गया है। इन सूक्तों के प्रकाश में इस श्लोक का अर्थ समझने का यत्न करते हैं।

सृष्टि-रचना से पूर्व समस्त विश्व अक्षर अविनाशी परमात्मा से व्याप्त था। उस अक्षर ब्रह्म को गीता के दूसरे अध्याय में सत् कहा गया है, जिसका क्षरण नहीं होता वह अक्षर है। सृष्टि-रचना से पूर्व के परम चेतन तत्त्व रूपी अक्षर ब्रह्म की कामना और त्रिगुणमयी प्रकृति के संयोग से जो प्रकृति में परिवर्तन हुआ, वह पहला कर्म था। उसके उपरांत क्रमिक विकास से सृष्टि-प्रक्रिया जारी हो गयी। इस श्लोक के अंतिम भाग में श्रीकृष्ण कह रहे हैं–'सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं।' इससे आशय है, परमात्मा परोपकार के कार्यों में बसता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।१६।

भावार्थ : है पार्थ, जो व्यक्ति सृष्टि-चक्र के अनुसार अपना योगदान नहीं करता, वह इंद्रिय-सुख को भोगने वाला पापी है, उसका जीना व्यय है: १६

व्याख्या : व्यक्ति और सृष्टि एक-दूसरे के पूरक है। इनके आदान-प्रदान में सहयोग देना लोकहित अर्थात् पुण्य का कार्य हैं। अपने इंद्रिय-सुख के कारण क्या आदान-प्रदान मैं बाधा डालना पाप अर्थात् समाजविरोधी कर्म है।

ज्ञानी जनों के दायित्व

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते।१७।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।१८।

भावार्थ : जो मनुष्य अपनी आत्मा से प्रीति रखता है, आत्मा में तृप्त है और आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि उस आत्मचेता व्यक्ति के लिए कर्म करने का कोई निजी प्रयोजन नहीं है। किसी भौतिक पदार्थ, किसी प्राणी से उसका स्वार्थ का संबंध नहीं है: १७, १८

तस्मादसक्तः सततं कार्य कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।१९।

भावार्थ : तू अनासक्त होकर निरंतर अपने कर्त्तव्य कर्म कर, क्योंकि अनासक्त कर्म करने वाला परमपद मोक्ष पाता है: १९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।२०।

भावार्थ : जनकादि ज्ञानी जनों ने आसक्ति से रहित कर्म करके सिद्धि प्राप्त की थी। अत: तुझे लोक-कल्याण के कार्य करने चाहिए: २०

व्याख्या : ऊपर के इन चारों श्लोकों के अलगा-अलग अर्थ करने से भ्रम उपजता है, किंतु इन चारों श्लोकों पर एक साथ विचार करने से आशय स्पष्ट होता है। इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि सभी कर्म अपनी आत्मा को पहचानने के लिए है। यदि आत्मा का साक्षात्कार हो जाये तो व्यक्ति के लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहता, फिर भी उसे लोक-

कल्याण के लिए कर्म करते रहना चाहिए।

राजर्षि जनक का उदाहरण देकर भगवान कह रहे हैं कि जनक ने राज-काज को लोक-सेवा का माध्यम बना लिया था। उन्हें इसी से परम सिद्धि मिल गयी। जो व्यक्ति दूकान चला रहा है, वह सही नाप तोल करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। तेरे जैसे सैनिक के लिए रणभूमि ही साधना-भूमि है।

अत: लोक-कल्याण की दृष्टि से तुझे शस्त्र उठाना चाहिए, क्योंकि यदि पापी के हाथ में शस्त्र हो तो उसे पापकर्म से रोकने के लिए पुण्यात्मा को भी शस्त्र धारण करना पड़ता है, उसमें कोई हत्या का पाप नहीं लगता।

जनक का अर्थ है जन्म देने वाला पिता। जनक की पदवीं मिथिला के राजवंश के सभी राजाओं के लिए थी। इसी वंश की एक कड़ी सीता के पिता राजा सी२ध्वज जनक थे। इस वंश के राजा अपनी प्रजा को अपनी संतान समझते थे। राज-काज चलाना उनके अपने स्वार्थ का साधन नहीं था, बल्कि लोक-सेवा का साधन था। उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो चुका था, फिर भी वे आदर्श के रूप में संसार के सभी कार्य करते रहते थे। इसी बात को भगवान अगले श्लोक में कहते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन:।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।२१।

भावार्थ : श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, उन्हे देखकर अन्य लोग भी वैसा करने लगते है। अगुआ जनों का आचरण अनुगामियों के लिए मापदंड जैसा होता है: २१

व्याख्या : दूर जाने की आवश्यकता नहीं, हम अपने सामने देखते रहे हैं कि स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में जवाहरकट वास्कट का फैशन चला था। मोरारजी देसाई स्वमूत्र चिकित्सा का प्रयोंग करते थे। उनके प्रधानमंत्रित्व काल में 'स्वमूत्र-चिकित्सा' पुस्तकों और समाचारपत्रों का प्रिय विषय बनती रही। राजीव गांधी के राजकाल में नवयुवकों में राजीव शैली की शाल ओढ़ने का फैशन चला था। यदि अगुआ जनों में भ्रष्टाचार: व्याप्त हो जाये तो सामान्य जनों में वह अधिक व्यापक रूप में फैलता जाता है। अगले तीन श्लोकों में अपने उदाहरण से भगवान इस बात को स्पष्ट करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।२२।

भावार्थ : हे पार्थ, तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मेरी पहुंच से दूर हो। मैं सभी प्रकार के कर्त्तव्यों से मुक्त हूं, फिर भी कर्म करता रहता हूं: २२

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रित:।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।२३।

भावार्थ : हे पार्थ, यदि मैं सावधानीपूर्वक कर्म न करूं तो आलसीजन मेरा अनुसरण करके कर्म करना छोड़ देंगे: २३

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजा:।२४।

भावार्थ : यदि मैं कर्म न करूं तो सामान्य जन पथभ्रष्ट हो जायेंगे। अव्यवस्था फैल जायेगी और उस अव्यवस्था का कारण मैं होऊंगा: २४

सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिचकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।२५।

भावार्थ : इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन, अज्ञानी जन कामना और आसक्ति के कारण कर्म करते हैं। ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे लोक-शिक्षण की दृष्टि से अनासक्त भाव से कर्म करते रहें: २५

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मरङ्गिनाम्।????????
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्यक्त: समाचरन्।२६।

भावार्थ : ज्ञानी जनों को चाहिए कि आसक्तिपूर्वक कर्म करने वाले अज्ञानियों को अपने ज्ञान से भ्रमित न करें बल्कि स्वयं संतुलनपूर्वक कर्म करते हुए उनसे उनकी बुद्धि के अनुसार कर्म करायें: २६

व्याख्या : ज्ञानयोगी निराकार उपासना में लीन हो सकता है किंतु सामान्य व्यक्ति का ध्यान इष्ट की मूर्ति के बिना नहीं लग सकता। उसे यह कहकर मूर्ति पूजा से हटायें कि ईश्वर तो सर्वव्यापी है, मूर्ति या मंदिर में क्या रखा है, तो इससे सामान्य व्यक्ति भ्रमित हो जायेगा। निराकार में तो वह लीन हो नहीं सकेगा और साकार से उसकी आस्था डिग जायेगी। फलस्वरूप वह कहीं का नहीं रहेगा।

कुछ व्यक्ति गीता के ज्ञान को समझने के योग्य होते हैं, कुछ लोग गीता का माहात्म्य पढ़कर शांति पाते हैं। उन्हें उनकी आस्था का फल अवश्य मिलता है। फल का कारण आस्था है, न कि वह पात्र जिस पर आस्था टिकाई जाती है।

प्रकृति और कर्त्ताभाव

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।२७।

भावार्थ : सत्व, रज और तम, इन तीन गुणों वाली प्रकृति व्यक्ति से कर्म कराती है, किंतु अहंकार से मोहित व्यक्ति अपने-अनकी कर्त्ता मान लेता है: २७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।२८।

भावार्थ : परंतु हे महान् भुजाओं, वाले अर्जुन, गुण-विभाग और कर्म-विभाग को समझने वाला व्यक्ति यह सोचकर कर्मों में आसक्त नहीं होता कि गुण गुणों में बरतते हैं, मैं उनसे अलग हूं: २८

व्याख्या : प्रकृति के तीन गुण तीन मुख्य विशेषताएं हैं। उनकी कम या अधिक मात्रा से व्यक्तियों के प्रकार बनते हैं। जैसे लाल, पीला और नीला, इन तीन रंगों के कम और अधिक मात्राओं के मेल से संसार के सभी रंग बनते हैं। वैसे ही इन तीन गुणों की कमी या अधिकता व्यक्ति के कर्मों की दिशा निश्चित करतीं है। क्या-विभाग शीर्षक के अंतर्गत इन तीनों गुणों के अतिरिक्त आकाश, वायु अग्नि, जल, पृथ्वी, ये पंच महाभूत, पांच कर्मेंद्रियां और पांच ज्ञानेंद्रियां शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध, सहित इंद्रियों के पांच विषय, मन बुद्धि और अहंकार, ये प्रकृति के गुण-विभाग के तत्त्व हैं। साध्य, वैशेषिक और न्याय दर्शनों में प्रकृति के इन तत्त्वों की संख्या अलग-अलग बताई गयी हैं, किंतु ये सब तत्त्व चैतन-तत्त्व आत्मा के संयोग से कर्म-विभाग का रूप ग्रहण करते हैं। प्रकृति के गुणों के बिना आत्मा कुछ नहीं कर सकती और आत्मा के बिना प्रकृति के सारे तत्व क्रियाहीन हैं। जिस व्यक्ति को गुण-विभाग और कर्म-विभाग का यह रहस्य ज्ञात हो

जाता है कि मैं केवल आत्मा हूं। मेरी समीपता से प्रकृति के गुणों में गति उत्पन्न होती है और वे गुण अपनी कमोवेश मात्राओं के अनुसार कर्म करने लगते हैं। मैं कृत्व नहीं करता, मेरे सभी कार्य प्रकृति की क्रियाओं को प्रतिक्रिया मात्र हैं। यह बोध हो जाने से अहंकार और आसक्ति का नाश हो जाता है।

ज्ञान की पात्रता न होने पर...

प्रकृतेर्गुणसमूढा: सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्यविदो मन्दात्कृतस्नवित्र विचालयेत्।२९।

भावार्थ : अज्ञानी जन प्रकृति के गुणों से मोहित होकर प्रकृति के गणों द्वारा उत्पन्न कर्मों में आसक्त रहते है, उन अज्ञानी जनों को आत्मज्ञान देकर कर्मों से विमुख न करें: २९

व्याख्या : आसक्त कर्म प्राथमिक कक्षाओं कीं पढ़ाई है, अनासक्ति ऊंची कक्षा की पढ़ाई है। प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी को विश्वविद्यालय स्तर की पुस्तक दे दी जाये तो वह उसे समझ नहीं पायेगा और पढ़ाई से विमुख हो जायेगा। भगवान उसे कर्म से विमुख नहीं होने देना चाहते, बल्कि क्रियाशील बने रहने देना चाहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि मानव का विकास जन्म में पूरा नहीं होता। यह अनेक जन्मों में पूरी होने वाली प्रक्रिया का फल है। भगवान इस बात को अन्य शब्दों में इसी अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में कह चुके हैं, यहां इसलिए दुहरा रहे है कि वे इस बात को अत्यंत महत्त्व देना चाहते हैं कि व्यक्ति के मानसिक स्तर के अनुसार कर्म की दिशा निश्चित होती हैं। यदि किसी व्यक्ति में निष्काम भाव से कर्म करने की योग्यता नहीं है तो ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे उसे कर्म करत्ने से रोकें नहीं, क्योंकि भगवान मानतें हैं किए कर्म बिल्कुल न करने से आसक्तिपूर्वक कर्म करना अच्छा है। इतना ज्ञान देने के उपरांत भगवान अर्जुन को उसके उस समय के कर्त्तव्य युद्ध की याद दिलाते है कि

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूला युध्यस्व विगतज्वर:।३०।

भावार्थ : अध्यात्मभरे चिंत्त से तू अपने सभी कर्म मुझे समर्पित करके आशा, ममता और शोक से राहत होकर युद्ध कर: ३०

व्याख्या : अर्जुन सैनिक स्वभाव का रजोगुणी व्यक्ति हैं। भगवान उसे सांत्वना देते हैं कि यदि, तू आत्मतत्त्व समझने में अभी समर्थ नहीं हआ है तो भक्तियोग का आश्रय लेकर अपने सारे कर्मों का फल मझें समर्पित करके शोकमुक्त हो जा। तेरे पाप-पुण्य का भागी मैं बनूंगा। भगवान का यह वचन एक कुशल मनोचिकित्सक की ओर से की जाने वाली मनोचिकित्सा है। इसका भाव है कि जो बात बुद्धि द्वारा समझ में न आये उसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार करो और युद्ध से पलायन करने की बजाय युद्ध करके उसके पाप-पुण्य का भागी मुझे बना दो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवा:।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्ती मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभि:।३१।

भावार्थ : जो श्रद्धावान मेरे इस कथन में दोष नहीं ढूंढते बल्कि मेरे इस मत के अनुसार आचरण करते हैं, वे कर्मों के फल से मुक्त होते है: ३१

ये त्वेवदथ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः। ३२।

भावार्थ : और जो अज्ञानी जन मेरे इस मत के अनुसार इसमें दोष ढूंढते रहते हैं, उन्हें नष्ट हुआ समझ: ३२

स्वधर्म, स्व प्रकृति

सदृशं चेष्टते स्वस्सा: प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: कि करिष्यति। ३३।

भावार्थ : क्योंकि सभी ज्ञानी और अज्ञानी जन अपनी प्रकृति के गुणों के अनुसार कार्य करते हैं। उन्हें हठपूर्वक रोकने से कुछ लाभ नहीं होता: ३३

व्याख्या : मूल स्वभाव बदलने में देर लगती हैं। मूल स्वभाव बदलना नदियों का बहाव बदलने जैसा कठिन कार्य होता है। तमोगुण से एकदम सतोगुण तक नहीं पहुंचा जा सकता। न ही रजोगुणी एकदम तमोगुणी या सतोग्ती बन सकता है?। हठपूर्वक किसी पर दबाव डालने से विपरीत फल निकलता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ हास्य परिपन्थनौ। ३४।

भावार्थ : प्रत्येक इंद्रिय की किसी विषय में राग अर्थात् प्रीति होती है किसी विषय में द्वेष अर्थात् मृणा होती है। इन राग-द्वैषों के अधीन नहीं होना चाहिए क्योंकि वे राग-द्वेष कल्याण-मार्ग के शत्रु हैं: ३४

व्याख्या : कान नामक ज्ञानेंद्रिय को मधुर स्वर से प्रीति होती है। कर्कश स्वर से द्वेष होता है। त्वचा नामक ज्ञानेंद्रिय को कोमल स्पर्श अच्छा लगता है, खुरदरा स्पर्श बुरा लगता है। नेत्रों का विषय रूप है, नेत्रों का सुदर रूप और कुरूप के साथ राग–द्वेष का संबंध होता है। ऐसा ही राग-द्वेष का संबंध जिह्वा के मधुर और कडुवे स्वाद के साथ होता है। नाक को सुगंध से राग होता है और दुर्गंध से द्वेष होता है। सृष्टि के सभी पदार्थ सभी को एक जैंसे प्रिय नहीं लगते। रंग-बिरगी सृष्टि के सभी व्यक्तियों और वस्तुओं को सृष्टि का आवश्यक अंग मानकर चलने में व्यक्ति में प्रतिकूलता का भाव नष्ट हो जाता है और जो व्यक्ति अपनी पसंद-नापसंद कों सर्वोपरि मानता है, उसकी शिकायतों का अंत नहीं रहता है, वह सदा अशांत रहता है।

श्रेयान्स्वयधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधन श्रेय: परधर्मो भयावह:। ३५।

भावार्थ : अपना धर्म गुण से रहित हों तो भी पराये धर्म से अच्छा है। अपने धर्म को भली भाँति निभाते हुए मरना भी अच्छा है। पराया धर्म भय देने वाला है: ३५

व्याख्या : यहां गुण का अर्थ सत्व, रज या तम में से कोई नहीं है बल्कि विशेषता के अर्थ में है और यहां धर्म शब्द सप्रदाय या मजहब (Religion) के अर्थ में नहीं आया है। व्यापक अर्थों में धर्म का अर्थ, स्वभाव, प्रकृति और धारण करने योग्य नियम और कर्त्तव्य है। पदार्थों की विशेषता को भी धर्म कहते हैं। जैसे लोहे का धर्म है गर्म होकर फैलना, पिघलना या ठंडा होने पर सिकुड़ना। पानी का धर्म हैं गर्म होकर उबलना, भाप बनकर उड़ना। कर्त्तव्य के अर्थ में धर्म शब्द का भी व्यापक प्रयोग होता है, यथा राजधर्म, कुलधर्म, प्रजाधर्म, व्यापार-धर्म, इत्यादि। यहां विषय के अनुसार धर्म का अर्थ कर्त्तव्य और स्वभाव बनता हैं। अर्जुन क्षत्रिय स्वभाव का है। यदि वह युद्ध में लड़ता हुआ मारा

भी जाता है तो उसके लिए शुभ है, बजाय इसके कि वह संन्यासी होकर सम्मानित हो जाये।

सैनिक व्यापार करे और व्यापारी तलवार चलाये तो दोनों असफल रहेंगे। अत: अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करतें रहने से परम पद मिलता है।

काम और कामना?

अर्जुन उचाव

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष:।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित:।३६।

भावार्थ : अर्जुन ने पूछा—हे वृष्णि वंश के दीपक श्रीकृष्ण, व्यक्ति न चाहतें हुए भी किस प्रेरणा के कारण पाप करने के लिए विवश होता है?: ३६

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।३७।

भावार्थ : भगवान बोले, रजोगुण से उत्पन्न होने वाला काम और काम से उपजा क्रोध पाप का कारण है। इस काम की तृप्ति नहीं होती, इसे तू बैरी जान: ३७

व्याख्या : सामान्यत: काम का अर्थ सैक्स तक सीमित रखा जाता है, किंतु व्यापक अर्थ में काम का अर्थ कामना है। गीता में स्थान-स्थान पर निष्काम कर्म पर जोर दिया है। सकाम कर्म को जन्म-मृत्यु के बंधन में डालने वाला बताया गया हैं।

कामना की तृप्ति नहीं होती। आज साईकिल चाहिए तो कल कार, परसों विमान चाहिए। पहले रहने का ठिकाना, फिर बड़ा घर, फर्नीचर, पर्दे, सजावट की वस्तुएं, इनका अंत नहीं है। व्यापार, सैक्स, राजनीति, हर क्षेत्र में कामना बढ़ती जाती है। जितना है, वह पर्याप्त नहीं है, उससे अधिक चाहिए। कामना के पूरा न होने पर क्रोध उपजता है। यहां सैक्स संहित हर प्रकार की कामना की अंधी दौड़ का भगवान निषेध कर रहे हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।३८।

भावार्थ : जैसे धुए से अग्नि, धूल से दर्पण तथा झिल्ली से गर्भस्थ शिशु ढका रहता है, वैसे काम द्वारा ज्ञान ढका हुआ है: ३८

व्याख्या : ज्ञान जब तक पूर्णत: विकसित नहीं हो जाता, तब तक वह कामनाओं की झिल्ली से ढका रहता है, जैसे गर्भस्थ शिशु विकसित होने से पूर्व झिल्ली से ढका रहता है। इसका परोक्ष भाव यह है कि ज्यों ही ज्ञान विकसित हो जाता है कामनाओं की झिल्ली फट जाती है और ज्ञान का जन्म हो जाता है।

आवृत ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।३९।

भावार्थ : है कुंतीपुत्र अर्जुन, यह काम ज्ञानी पुरुष का वैरी है। यह ऐसी अग्नि है जो कभी तृप्त नहीं होती, इसीके आवरण में ज्ञान ढका हुआ है: ३९

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरत्राधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।४०।

भावार्थ : इंद्रियां, मन और बुद्धि काम के वास-स्थान कहे जाते हैं। मन बुद्धि और इंद्रियों द्वारा यह काम ज्ञान कौ ढककर देहधारी आत्मा को मोह में डाल देता है: ४०

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।४१।

भावार्थ : इसलिए है भरतवंशी अर्जुन, तू इंद्रियों को वश में करके, ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले पापी काम को मार: ४१

व्याख्या : ज्ञान से आशय आत्मज्ञान से है और विज्ञान से आशय आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों का ज्ञान है। इंद्रियों पर नियंत्रण करके काम को मारा जा सकता है। अगले श्लोको में भगवान इंद्रियों को नियंत्रित करने की प्रक्रिया बताते हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: पर मन:।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स:।४२।

भावार्थ : इंद्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से आत्मा श्रेष्ठ है: ४२

व्याख्या : भगवान ने इंद्रियों से आत्मा तक की यात्रा में आत्मा को सर्वश्रेष्ठ बताया है, कितु अज्ञानी जन की दशा इससे विपरीत होती है। वह इंद्रियों का गुलाम होता है। इंद्रियां मन को गुलाम बनाती हैं और मन बुद्धि को मलिन करता है और मल के आवरण में ढ़की बुद्धि आत्मा को बंदी बना लेती है। इस विपरीत प्रक्रिया से निकलने के लिए भगवान आगे कहते हैं:

एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।४३।

भावार्थ : हे महाबाहो अर्जुन, तू आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ मानकर, मन को वश में करके काम रूपी शत्रु को मार: ४३

व्याख्या : भगवान काम को मारने के लिए अर्जुन की प्रशंसा महाबाहु विशेषण से करते हैं और कामनाओं को मारने की प्रक्रिया बताते हैं किए शरीर: का राजा आत्मा है। बुद्धि उसका मंत्री है, मन सेनापति है। इंद्रियां मन की सेनाएं हैं। यदि राजा सोया हुआ हो, अर्थात् अज्ञान से ढका हुआ हो तो मंत्री तथा सेनापति अपनी सेना द्वारा राजा को अधीन कर लेते है। यदि राजा जागा हुआ हो अर्थात् उसे अपने राजा होने का ज्ञान हो तो वह बुद्धि द्वारा मन को वश में करके कामनाओं को मार सकता है। इस विधि से निष्कामकर्मी हुआ जा सकता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्याय:॥३॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय संपूर्ण हुआ।

चौथा अध्याय

ज्ञान, कर्म, संन्यास योग

जिस प्रकार शिशु को अक्षर-ज्ञान कराते समय अ, आ, इ, ई आदि स्वरों का ज्ञान देते हैं, फिर क, ख, ग, घ आदि व्यंजन सिखाते हैं, उसके पश्चात् संयुक्ताक्षर पढ़ाते हैं, वैसे ही भगवान सीढ़ी-दर-सीढ़ी अर्जुन को ज्ञान दे रहे हैं।

दूसरे अध्याय में भगवान ने अर्जुन को आत्मा की अमरता का ज्ञान दिया है और कर्मयोग की भूमिका बनाई है। तीसरे अध्याय में कर्म के विषय को विस्तार दिया है।

इस अध्याय में भगवान बताते हैं किए कोरा कर्म और कोरा ज्ञान, ये दोनों अधूरे हैं। ज्ञानसहित कर्म का महत्त्व है। इस अध्याय में भगवान कर्मों के भेद बताते हैं और यज्ञ के विषय को भी विस्तार देते हैं और संन्यास का आशय भी समझाते हैं। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में भगवान ने अपने अवतार लेने का कारण बताया है और वर्ण-व्यवस्था की वास्तविकता बताई है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि गीता में सांख्य का आशय ज्ञान ही है। यह ज्ञान आत्मा, परमात्मा विषयक आध्यात्मिक ज्ञान है और योग का अर्थ अधिकतर स्थानों पर कर्मयोग है और कर्म से आशय कर्त्तव्य कर्म से है।

कर्मयोग की परपरा के विषय में भगवान के वचनों के साथ इस अध्याय का आरंभ होता है:–

कर्मयोग की परंपरा

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्याकवेऽब्रवीत्। १।

भावार्थ : भगवान बोले, सदा से चले आ रहे इस कर्मयोग को मैंने विवस्वान से कहा, विवस्वान ने मनु से कहा और मनु ने इक्ष्याकु से कहा: १

व्याख्या : गीता के कुछ भाष्यकार विवस्वान का अर्थ सूर्य लेते हैं और कुछ भाष्यकार विवस्वान को सूर्यवंश का आदि पुरुष मानते हैं।

मनु मनुष्य जाति का प्रतिनिधि है और इस्वाकु अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की कड़ी का प्रथम राजा है।

इस श्लोक में भगवान अलंकारिक भाषा में अर्जुन को यह बता रहे हैं कि कर्मयोग का विषय कोई नया विषय नहीं है, आदिकाल से चला आ रहा है।

यदि विवस्वान का अर्थ सूर्य माना जाये तो कर्मयोग की अति प्राचीनता प्रकट होती है। सूर्य सेर हमारे, पृथ्वी नामक ग्रह की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार हम पृथ्वी को माता कहते हैं, उसी प्रकार सूर्य को पिता मानना उचित है।

सूर्य हमारे ब्रह्मांड का एक छोटा-सा नक्षत्र है। हमारा ब्रह्मांड बहुत व्यापक हैं। यह सारा ब्रह्मांड ब्रह्मारूपी परमात्मा का शरीरं है और श्रीकृष्ण मानव शरीर के रूप में ब्रह्म हैं। अलंकारिक भाषा के अनुसार विवस्वान रूपी सूर्य का उदाहरण देकर भगवान अर्जुन को बता रहे हैं कि जिस प्रकार सूर्य बिना किसी फल की आशा के निरंतर प्रकाश बिखेरता हुआ हमारी पृथ्वी के जीव-जंतु और वनस्पति को विकसित कर रहा है, उसी

प्रकार अनासक्त कर्म करते रहने की सीख मनु ने सूर्य से ली। इसके बाद का कर्मयोग का इतिहास भगवान अगले श्लोक में बता रहे है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।२।

भावार्थ : हे शत्रुओं को संताप देने वाले अर्जुन, इस प्रकार परंपरा से चले आये कर्मयोग को राजर्षियों ने जाना। फिर यह योग बहुत समय के लिए लुप्त हो गया: २

व्याख्या : प्राचीन भारत में यह परंपरा थी कि जब कोई क्षत्रिय ज्ञानमार्ग की सिद्धि प्राप्त करते थे, तो उन्हें राजर्षि कहते थे। जब ब्राह्मण ज्ञानमार्ग के अनुसार चलते थे, उन्हे ब्रह्मर्षि कहते थे।

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल के राजा राजर्षियों का सा जीवन व्यतीत करते थे और राज-काल को कर्त्तव्य भाव से चलाते थे। श्रीकृष्ण के अवतार काल में राजाओं में स्वार्थ-बुद्धि आ गयी थी। इसी लुप्त कर्मयोग की पुनर्स्थापना के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने अवतार लिया। कर्मयोग के लिए अर्जुन की पात्रता भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।३।

भावार्थ : यह योग हरेक को बताने योग्य नहीं है। तू मेरा भक्त और मित्र है, इसलिए मैंने तुझे इस अति प्राचीन योग का रहस्य बताया है: ३

व्याख्या : ज्ञान पात्र को देखकर दिया जाता है। कुपात्र को दिया हुआ ज्ञानअनिष्टकारी होता है, जैसे सांप को दूध पिलाने से सांप का विष बढ़ता है। अर्जुन की पात्रता यह है किए वह भगवान का मित्र है, उन पर आस्था रखता है। उसकी यह पात्रता उसे जताने के साथ भगवान उसे योग का ज्ञान दे रहे हैं किंतु अर्जुन की जिज्ञासा गहरी है। वह भगवान के मनुष्य शरीर की आयु को सीमित मानकर पूछता है:

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।४।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे भगवान, आपका जन्म बाद में हुआ है, विवस्वान का जन्म पहले का है। मैं कैसे जानूं कि आपने इस कर्मयोग के विषय में विवस्वान को कहा था: ४

पुनर्जन्म तथा अवतार का सिद्धांत

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।५।

भावार्थ : भगवान बोले, हे शत्रुओ को संताप देने वाले अर्जुन, मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबके विषय में जानता हूं, परंतु तू नहीं जानता: ५

व्याख्या : भौतिक पदार्थों में से कुछ दूरबीन द्वारा देखे जा सकते हैं। कुछ अणुवीक्षण यंत्र (Microscope) द्वारा देखे जा सकते हैं। किंतु भावना और अध्यात्म के विषय अनुभव, अनुभूति और अंतर्दृष्टि द्वारा देखे जा सकते हैं।

अनुभव स्थूल बुद्धि के अनुसार घटित होनैं वाला ज्ञान है। सामान्य सा व्यक्ति किसी नवजात शिशु के लिंग को देखकर भविष्यवाणी कर सकता है कि पंद्रह-बीस वर्ष के बाद उसके स्तन उभरेंगे या मूंछ-दाड़ी आयेगी। ऐसा भविष्य कथन सामान्य ज्ञान की श्रेणी में आता है। दूसरों को सुख-दुःख में देरवकर, अपने ऊपर वैसे सुख-दुःख की कल्पना करके हर्ष और करुणा का अनुभव कर लेना अनुभूति है। अनुभूति मन-बुद्धि की अधिक तीक्ष्णता पर निर्भर होती है।

अंतर्दृष्टि अनुभूति से अधिक तीक्षण मन, बुद्धि की अवस्था है। अंतर्द्रष्टा के सामने भूत, भविष्य, वर्तमान के मध्य कोई सीमारेखा नहीं होती, वह त्रिकालज्ञ होता है, अंतर्यामी होता है। श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं, इसलिए वे अर्जुन के पूर्वजन्मों के विषय में जानते हैं और अपने ब्रह्मस्वरूप होने का यह रहस्य भगवान अर्जुन पर खोलते हुए अपने जन्मों की विलक्षणता के बारे में बताते हैं।

अजोऽपि सन्तव्ययात्मा भूतानमीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।६।

भावार्थ : यद्यपि मैं जन्मरहित हूं, नाशरहित हूं और पंचतत्त्व युक्ता प्राणियों का स्वामी हूं, इसलिए मेरा जन्म प्रकृति के अधीन नहीं होता। मैं अपनी माया से प्रकट होता हूं: ६

व्याख्या : पूर्व श्लोक में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं। वहां जन्म शब्द अर्जुन की सामान्य बुद्धि के अनुसार कहा है। वास्तव में भगवान स्वयं ब्रह्मस्वरूप हैं। ब्रह्म का न आदि होता हैं, न अंत होता है। वे जन्म नहीं लेते। वे किसी विशेष स्वरूप में प्रकट होते हैं। उनकी मृत्यु नहीं होती। वे उस विशेष स्वरूप को ब्रह्म में लीन कर देते हैं।

त्रिगुणमयी प्रकृति को माया भी कहते हैं। सामान्य जन प्रकृति के अधीन होकर कर्मों का फल भोगने के लिए जन्मते-मरते हैं। वे जन्म और मृत्यु के विषय में स्वतंत्र नहीं होते, किंतु परम चेतन तत्त्व परमात्मा प्रकृति को माध्यम बनाकर प्रकट हो जाते हैं। प्रकृति को माध्यम इसलिए बनाना पड़ता है कि कोई भी कार्य संपन्न करने के लिए आत्मा परमात्मा को शरीरं की आवश्यकता होती है। शरीर भौतिक तत्त्वों से युक्त है, इसलिए दिखाई देता है। आत्मा भौतिक तत्त्व नहीं है, इसलिए देखी नहीं जा सकती। परम आत्मा ब्रह्म को शरीर धारण करने की आवश्यकता कब पड़ती है, यह रहस्य अगले श्लोक में भगवान बताते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्थ ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।७।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, जब-जब धर्म की अवनति और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब में अपने आपका प्रकट करता हूं: ७

व्याख्या : प्राचीन काल में धर्म का अर्थ नीति, नियम, परमार्थ कार्यों के लिए किया जाता था। उससे विपरीत अनैतिकता, अनियमितता, स्वार्थ, भ्रष्टाचार आदि के लिए अधर्म शब्द प्रयुक्त होता था। अनैतिकता जब नैतिकता से आगे बढ़ने लगे तो परम आत्मा के लिए साकार रूप धारण करना अवश्यंभावी हो जाता है, उसी को सनातम धर्म में अवतार धारण करना कहते हैं। अवतरण या अवतार का अर्थ है उतरना, ऊंचे स्थान से नीचे आना।

आधुनिक समाजवैज्ञानिक इस बात को यों कहते हैं कि जब अनिष्टकारी शक्तियां प्रबल हो जाती हैं तो उनका प्रतिकार करने वाली शक्तियों को एकजुट होना पड़ता है, वे जिस साकार रूप में एकजुट होती हैं, उन्हें महापुरुष, पैगंबर मसीहा या अवतार कहते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।८।

भावार्थ : साधुजनों की रक्षा करने के लिए और दुष्टजनों का विनाश करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं: ८

व्याख्या : यहां साधुजन का अर्थ भगवाधारी, बाल बढ़ाये या भभूत रमाये व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है। साधु शब्द भले व्यक्तियों, सज्जनों के लिए व्यवहार में लाया जाता था।

यहां युग-युग का तात्पर्य सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग नहीं है, बल्कि 'युग-युग' में प्रकट होने का अर्थ है, समय-समय पर प्रकट होना। कल्प के अनुसार एक युग में एक से अधिक अवतार हो सकते हैं, होते रहे है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।९।

भावार्थ : हे अर्जुन, मेरे इस दिव्य जन्म और कर्म को जो व्यक्ति भली-भाँति जान लेता है, वह देह त्यागने के उपरांत पुन: जन्म नहीं लेता, वह मुझमें आ मिलता है: ९

व्याख्या : भगवान कहते हैं, मेरा जन्म प्रकृति के अधीन नहीं होता हैं, इसी को दिव्य जीवन कहा गया है। मेरे कर्म मेरे, निजी लाभ-हानि के लिए नहीं है, अपितु लोकहित के लिए हैं। इसको भली-भांति जानने तथा उसीके अनुसार आचरण करने से व्यक्ति ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अज्ञान के कारण व्यक्ति अपने आपको ब्रह्म से अलग इकाई मानता है और वह अपने पराये का भेद करता है। भगवान कहतें हैं कि जो व्यक्ति मेरे कृष्ण स्वरूप के पीछे साक्षात् ब्रह्म को समझ लेता है, वह मुझमें और अपने में कोई अंतर नहीं देखता। उसके किये हुए सभी कार्य आसक्तिरहित हो जाते हैं। वह इच्छा और कामना से रहित हो जाता है। इसलिए उसके पुनर्जन्म की संभावना नहीं रहती।

प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा पहले भी हुआ है कि ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके कुछ जन ब्रह्मस्वरूप हुए हों, इस संभावित प्रश्न का उत्तर भगवान अगले श्लोक में देते हैं।

वीततागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता:।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता:।१०।

भावार्थ : राग, भय और क्रोध से रहित ऐसे अनेक जन मुझमें समाये है। वे ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं: १०

व्याख्या : राग शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ रखता है। इच्छा कामना, सुख, प्रीति, आसक्ति, इन सभी का भाव 'राग' शब्द के अतर्गत आता है। भय से तात्पर्य मृत्यु का भय है। क्रोध द्वेष का रूप है। राग, द्वेष और भय मुक्त जन स्वयं ब्रह्म का अंश बन चुके है। जो जन ज्ञानरूपी तप के मार्ग को कठिन मानते हैं, उन्हें निराश होने की आवश्यकता नहीं है, उनके विषय में भगवान अगले श्लोक में कहते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।११।

भावार्थ : हे पार्थ, जो जन जिस भाव से मेरी शरण में आते हैं, मैं उनके भाव के अनुसार उन्हें स्वीकार करता हूं। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सभी मनुष्य मेरे मार्ग पर चलते हैं: ११

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।१२।

भावार्थ : इस मनुष्य लोक में कर्मों का फल पाने के लिए जो जन यज्ञ द्वारा देवताओं की पूजा करते हैं, उनके कर्मों से उन्हें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है: १२

व्याख्या : सभी जन एकसमान आस्था वाले, एकसमान बुद्धि वाले नही होते। ज्ञानयोगी अध्ययन द्वारा मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। सकाम कर्मी पुण्य, स्वर्ग तथा अन्य सांसारिक फल की इच्छा से अपने इष्टदेव की पूजा करते हैं। उन्हें उनकी पूजा का फल शीघ्र प्राप्त होता है। यहां यह प्रश्न उठता है की जब देवपूजा का फल शीघ्र मिलता है तो ज्ञान रुपी कठिन मार्ग क्यों अपनाया जाये? इसका उत्तर तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान से चुके हैं। इस श्लोक की व्यख्या यह है कि समाज में दो प्रकार की पर्वती के व्यक्ति है। जो बहिमुर्खी हैं, उनके लिए कर्मयोग का मार्ग सरल है और जो अंतर्मुखी है, उनके लिए ज्ञानयोग का मार्ग सरल है।

भगवान जानते हैं की सभी व्यक्तियों से निष्काम कर्म की आशा नही होती। निष्कर्म होने की बजाय सकाम कर्मी होने अच्छा है। भगवान हरके की प्रवृति और उसके गुण, धर्म के अनुस्सर उसके लिए मार्ग सुझा रहें हैं।

वर्ण-व्यवस्था संबंधी भगवान के वचन

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।१३।

भावार्थ : गुण और कर्म के अनुसार मैंने चारों वर्णों के विभाग रचे हैं। उनका कर्ता होने पर भी तू मुझ अविनाशी को अकर्ता जान: १३

व्याख्या : इस श्लोक से प्रतीत होता है श्रीकृष्ण के अवतार काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था फैल गयी थी। उस व्यवस्था के निवारण के लिए भगवान का यह वचन अनेक भ्रांतियों को दूर करता है।

गुण विशेषता को भी कहते हैं, किंतु यहां गुण से आशय त्रिगुण प्रकृति के गुण, सतो गुण, रजो गुण और तमो गुण है। गुण के साथ कर्म जोड़कर भगवान ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनें स्वभाव के अनुसार कर्म चुनने की स्वतंत्रता मैंने दी है। वैदिक संस्कृति के उद्घोषक श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार के वचनानुसार वर्ण शब्द 'वृ' धातु से बना है। उसकें अनुसार वर्ण का भाव है वरण करना, चुनना पंसद करना।

प्रतीत होता हैं कि अति प्राचीन काल में मनीषियों द्वारा बुद्धि-परीक्षा की कसौटी के अनुसार व्यक्ति को कार्यक्षेत्र चुनने का सुझाव दिया जाता था। सतोगुण ...-प्रधान चिंतन-मनन के कार्य के लिए नियुक्त किये जाते थे। ब्रह्म का रहस्य जानने की चेष्टा वाले ब्राह्मण पद पाते थे। रजोगुण प्रधान, सेना तथा राजकाज के लिए उपयुक्त समझे जाने वाले जनों को क्षत्रिय वर्ण मैं सम्मिलित किया जाता था। रजोमिश्रित तमो प्रधानव्यक्ति खेती, व्यापार, पशुपालन के लिए उपयुक्त समझे जाते थे, उन्हें वैश्य कहा गया। तमो

प्रधान व्यक्ति अकुशल कार्यों पर लगाये जाते थे, उन्हे शूद्र नाम दिया गया।

समाज में हर कार्य की कुशलता वाले लोग होने से समाज का काम-काज ठीक चल सकता है। ब्रह्म के रहस्य खोजना आवश्यक है तो समाज की सुरक्षा भी आवश्यक है, अन्यथा एक सतोगुणी समाज अन्य रजोगुणी समाज का गुलाम बन जायेगा और ब्रह्म के अन्वेषण का कार्य बाधित होगा। अर्नेषण और सुरक्षा के लिए धन की व्यवस्था भी चाहिए। और वे लोग भी चाहिए जो स्वयं निर्णय लेने में असमर्थ होते हैं, किंतु वे श्रम कर सकते हैं। हर प्रकार के श्रम का विभाजन जब तक गुण कर्म के आधार पर, व्यक्ति की अपनी इच्छा और योग्यता के आधार पर रहता है तो समाज का संतुलन बना रहता है। उसमें ऊंच-नीच की भावना लाना, या जन्म से किसीको निम्न और किमीको ऊंचा मानना, भगवान की इच्छा के विपरीत है। महाभारत काल में यह बुराई पनपने लगी थी। इसीको देखकर भगवान को इस श्लोक द्वारा यह उद्घोषणा करनी पड़ी कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर वर्णों के विभाग रचे हैं, जन्म के, आधार पर नहीं।

आजकल भी अपनी प्रकृति के तो के अनुसार ब्राह्मण कुल में जन्मे व्यक्ति ब्रह्म का अन्वेषण त्यागकर व्यापार कर रहे हैं, संविधान रचने का कार्य, जो ब्राह्मण की बपौती समझा जाता था, वह कार्य श्रद्र कुल में जन्मे हुए विद्वान् कर रहे है। वैश्य वंश के सेना में भरती हो रहे हैं और क्षत्रिय अकुशल वर्णों के कार्य कर रहे हैं किंतु वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य स्वयं को जन्म से उच्च मानने का घमंड साथ ही पाल रहे हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्राकतिक गुणों के अनुसार कर्म करने की स्वतन्त्रता भगवान ने दी है, किंतु अपने-आपको किसी परम्परा के कारण ऊँचा मानना भगवान के आदेशो के उल्लंघन है। इसी श्लोक के अंतिम भाग में भगवान कहते हैं कि वर्णों के विभाग रचने के बावजूद मुझे अकर्ता मान। इस अंश को स्पष्ट करने के लिए अगले श्लोक में भगवान कहते हैं :

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।१४।

भावार्थ : मुझे कर्मफल की इस्छा नहीं है, इसलिए मेरे कर्म मुझे लिप्त नहीं करते। मेरी इस वास्तविकता को जो व्यक्ति जान लेता है, वह भी कर्मो के बन्धन में नही पड़ता: १४

व्याख्या : कर्म, जो जन्म और मृत्यु का कारण बनता है, उसका वास्तविक कारण भगवान यहां ब्रह्मस्वरूप होकर बोल रहे है, ब्रह्म के कार्य एक नियत कर्म के अनुसार होते है, उसमे करता का भाव नही होता। ब्रह्मरुपी चेतन तत्व की उपस्थिति से प्राक्रतिक में कार्य उत्पन्न होता है, इसलिए ईश्वर कर्म का कर्क होने पर भी अकर्ता बना रहता है।

शिशु का सभी कार्य खेल होता है। यदि किसी खेल में हार-जीत की भावना आ जाये तो खेल कर्म बन जाता है। उस कर्म में जीत सुख का कारण बनती है और हार दुःख का कारण बनती है। भगवान के कार्य खेल की भाँती है। इसलिए भगवान के कार्यों को लीला कहते हैं।

इस श्लोक के दूसरे भाग में कहा है, जो मेरी इस वास्तविकता को जान लेता है, वह भी कर्मो के बन्धन में नहीं पड़ता। यहां जाने के आशय है, जानकर वैसा आचरण करना। कर्म में से करता भाव निकाल देना, ऐसा आचरण करने वाला जन्म-मरण के दुखों से

छुटकारा पाता है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वेरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पर्वतरं कृतम्।१५।

भावार्थ : इस वास्तविकता को जानकर इससे पहले भी मुमुक्षु जनों ने कर्म किये हैं, इसलिए तू भी उनकी भाँती कर्म कर: १५

व्याख्या : जो व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से विरक्त हो गये हैं, जिन्हें इस लोक और परलोक के भोगों की इच्छा नहीं है, जो केवल मोक्ष चाहते हैं, उन्हें मुमुक्षु कहते हैं। भगवान अर्जुन को बता रहे हैं की तुमसे पहले जिन लोगों ने मोक्ष चाह था, उन्होंने अपने कर्तव्य कर्म नहीं छोड़े थे। तात्पर्य यह है कि कर्म मिक्ष के मार्ग में बंधक नहीं होते, कर्म के फल की इच्छा बाधक होती है। तुझे छोड़न है तो कर्म के फल की इच्छा छोड़।

कर्म, अकर्म और विकर्म

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।१६।

भावार्थ : कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय में विचारशील लोग भी भ्रम में पड़ जाते है। मैं तुझे कर्मों का रहस्य बताऊँगा, जिसे जानकर तू कर्म से मुक्त हो जायेगा: १६

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।१७।

भावार्थ : कर्म क्या है, अकर्म क्या है और विकर्म क्या है, इन सबको समझना चाहिए। कर्मों की गति को समझना अत्यत कठिन हुए हैं: १७

व्याख्या : इन दो श्लोकों में भगवान अपने युग में कर्मों के विषय में फैले भ्रम को दूर कर रहे हैं। कर्त्तव्य भाव से किये जाने वाले कार्य कर्म है और जो व्यक्ति पाप या पुण्य के भय से कर्म छोड़ देते हैं और समझते हैं कि वह पाप और पुण्य, दोनों से मुक्त हो गये हैं, इसलिए मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं, वे भ्रम में हैं, उनका अकर्म तमोगुण से उपजा हुआ है। न करने योग्य निषिद्ध कर्म को विकर्म कहा गया है।

कर्म करते हुए व्यक्ति कब अकर्म या विकर्म में प्रवेश कर जाता है, इसका रहस्य समझना कर्मों की गति को समझना है। इस बात को हम उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। किसीको को पीटना विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म है किंतु माता अपने बच्चे को उसके कल्याण के लिए पीटती है तो उसका पीटना निषिद्ध कर्म नहीं होता। अपनी शत्रुता के लिए किसी की हत्या करना निषिद्ध है, किंतु युद्धभूमि में सैनिक सेनापति के आदेश से किसीको मारता हैं तो उसका कर्म विकर्म नहीं, कर्म है।

बाहर निष्क्रियता हो, मन में उथल-पुथल हो रही हो तो वह अकर्म भी कर्म है और यदि मन की उथल-पुथल कोई षड्यंत्र रच रही हो तो वह अकर्म विकर्म बन जाता है। भगवान अर्जुन को इन प्रलोकों में बता रहे हैं कि जो प्रकटत: दिखाई देता है, वह सच नहीं है। उसके पीछे भाव क्या हैं? उसको समझना आवश्यक है। इसी भेद को समझना कर्मों की गति को समझना कहा गया है। इसी बात को आगे इन शब्दों में कहते हैं :–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
य बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।१८।

भावार्थ : जो व्यक्ति कर्म में अकर्म को देख लेता है और अकर्म में कर्मको देख सकता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है। वह सब कर्मों को करते रहने के बावजूद योगी है: १८

व्याख्या : बुद्धिमान व्यक्ति वह है जो व्यक्ति के आचरण से जान लेता है कि उसके कूर्म के पीछे कर्ता का भाव है या नहीं। यदि कर्ता का भाव नहीं है, तो व्यक्ति का भी अकर्म है अर्थात् उसका कोइ दुष्फल या सुफल है।

यदि कोई व्यक्ति कर्म का त्याग करते हुए मन में यह सोचता है कि मैंने बहुत बड़ा त्याग किया है, तो उसका कर्म को छोड़ना भी एक कर्म है, उस छोड़ने में कर्त्ता का अहंकार भरा है। बुद्धिमान व्यक्ति इस त्याग के अकर्म से कर्त्ता भाव देख लेता है।

जो व्यक्ति यह सब देखकर अपने आचरण पर नजर डालता है तो उसका कर्त्ता भाव लुप्त हो जाता हैं। वह स्वयं को परमात्मा का हाथ समझकर काम करता है। वह फल की इच्छा के बिना कर्म करता है। वह सभी कर्म करते रहने के बावजूद कर्मयोगी है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।१९।

भावार्थ : जिसके सभी कर्म कामना के पूरा करने की इच्छा से रहित हैं, और जिसके सभी कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हो गये हैं, उसको बुद्धिमान जन 'पंडित' कहते हैं: १९

व्याख्या : सामान्य जन तो व्यक्ति के तिलक, वस्त्रादि की ऊपरी तामझाम को देखकर किसीको भी पंडित मान सकते हैं, किंतु वास्तविक पंडित वह है, जिसे बुद्धिमान जन पंडित मानें। पंडित का तात्पर्य है, जिसने शास्त्रों का तत्त्व समझा हुआ हो, जो विवेकशील हो, जिसने ज्ञान रूपी अग्नि में अपने कर्मों को दग्ध कर दिया हो।

अन्य का जो दाना आग पर सेंक लिया जाता है, उस दाने को धरती में बोने से अन्न नहीं उगता। इस प्रकार जौ व्यक्ति यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वास्तविक कर्त्ता परम आत्मा है। मैं इसमें निमित्त हूं, यह भाव मन में रखते हुए वह कर्म करता है, उस्का वह कर्म ज्ञान रूपी अग्नि से भुने हुए दाने जैसा होता है। उसके कर्मों से पाप और पुण्य का फल नहीं उगता।

त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किन्चित्करोति सः।२०।

भावार्थ : जिसने कर्म फल की कामना छोड़ दी है। जिसका सुख किसी वस्तु या व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। जो सदा तृप्ति अनुभव करता है। वह सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता: २०

व्याख्या : जो व्यक्ति यह सोचे की साईकिल मिल जाये, सुखी हो जाऊं या विशाल कार मिल जाये या ऊँचा पद, मत या विशाल कारोबार या बड़ा भवन मिल जाये या पुत्रों-पोतों शीत बड़ा परिवार हो तो सुखी हो जाऊं अथवा कहीं एकांत मिले तो शांति मिले, तो ऐसे व्यक्ति को सुख के लिए बहार कोई आश्रय चाहिए। उसका सुख अन्य वस्तुओं या अन्य व्यक्तियों पर निर्भर है। वह कभी तृप्त नही हो सकता, स्थायी तृप्ति की अवस्था वह है, जिस्स्से व्यक्ति कभी किसी कमी का अनुभव न करे, जो प्राप्त है उसी को पर्याप्त माने। जो प्राप्त है, उसे पर्याप्त मानकर अकर्मण्य होकर बैठने का निर्देश भगवान नहीं दे रहे, बल्कि वह कहते हैं, अपने कर्तव्य कर्म करते हुए फल की इच्छा न करके कर्म

करे।

निराशिर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।२१।

भावार्थ : जिसका चित उसके वश में है जो किसी आशा नहीं रखता, जिसने भोग पदार्थों को संग्रह करने की वृति त्याग दि है, जो मात्र शरीर की स्थिति के लिए कर्म करता है, वह पाप का भागी नहीं होता: २१

व्याख्या : मन, बुद्धि और अहंकार के समुच्चय को चित कहते हैं। जो जन चित वश में होते हैं, जो भोग पदार्थो के संग्रह करने की धुन में रहते हैं जो अन्य जनों से आशा अपेक्षा रखते हैं, ऐसे व्यक्तियों से पाप कर्म करने की सम्भावना होती है। विपरीत इसके वह व्यक्ति, जिसने चित को वश में किया हुआ है, जो किसी से आशा नही रखता, भोग सामग्री को संग्रह करने की धुन में वह दूसरों का हक़ नही मारता, बल्कि जितना मिलता है, उसी में संतुष्ट रहता है, वह अपने-आपको जीवित रखने के लिए शरीर को कर्म में लगाये रखता है, मन को उन कर्मों के फल में आसक्त नही होने देता। ऐसा व्यक्ति पाप का भागी नही होता।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
सम: सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।२२।

भावार्थ : अपने आप जो प्राप्त हो जाये, उसी में संतुष्ट रहने वाला, ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और विफलता में एकसमान भाव रखने वाला व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्मो के बन्धन से मुक्त रहता है: २२

व्याख्या : दूसरे अध्याय में स्थिर बुद्धि के व्यक्ति की मुख्य-मुख्य विशेषताओं को भगवान अन्य शब्दों में यहां फिर दुहरा रहें हैं, ताकि अर्जुन के मन-मस्तिष्क में बात भली-भांति समा जाये।

यज्ञ के अनेक प्रकार

गतसङ्गस्थ मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।२३।

भावार्थ : जिसकी कर्मफल में आसक्ति नहीं है, जो राग-द्वेष से मुक्त है, जिसका मन आत्मा-परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है, जो सभी कर्मों को यज्ञ मानकर: करता है, उसके कर्य बंधनकारक नहीं होते: २३

व्याख्या : तीसरे अध्याय में भगवान ने कामना हेतु किये जानै वाले प्रचलित यज्ञों के साथ निष्काम कर्म को भी यज्ञ कहा है। लोकहित के कर्मों को भी यज्ञ कहा है। इसी विषय को अधिक विस्तार से भगवान इन श्लोकों में बताते हैं।

तिल, चावल, घी, सामग्री आदि अग्निकुंड में डालना एक प्रकार का यज्ञ है, किंतु यज्ञ का मूल तत्व 'इदं न मम' का भाव है। यज्ञकर्त्ता सामग्री को कुंड में डालते समय 'इदं न मम' का उच्चारण करता है, जिसका अर्थ है 'यह मेरा नहीं है, अमुक देव का है।' भगवान कहते हैं हवनकुंड और हवन-सामग्री के बिना भी यज्ञ हो सकता है, यदि व्यक्ति कर्म करते समय 'इदं न मम' का भाव मन में रहे, अर्थात् यह सोचे कि मैं जो कर्म कर रहा हूं, उसका फल मेरा नहीं है।

अगले कुछ श्लोकों में भगवान नितांत नवीन यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ के विषय में बताते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।२४।

भावार्थ : ज्ञान-यज्ञ में हवन करने की कलछी ब्रह्म है, सामग्री ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्मा है, यज्ञकर्ता ब्रह्म है, और इस यज्ञ की उपलाङ्ग भी ब्रह्मलीन होना है: २४

व्याख्या : इस श्लोक का भाव यह है कि जो व्यक्ति अपने चारों ओर ब्रज्ज और परमात्मा को अनुभव करता है, उसका हर कृत्य यज्ञ के संमान है। वह जीते जी ब्रह्मस्वरूप होता है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।२५।

भावार्थ : कई योगी जेन देवाताओं को लक्ष्य में रखकर यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। अन्य योगी जन ब्रह्मरूपी अग्नि में अपनें-आपको समर्पित कर देते हैं: २५

व्याख्या : यहां योगी का अर्थ है अपने इष्ट के प्रति एकाग्र होने वाला व्यक्ति, ब्रह्म रूपी मे अपने-आपको समर्पित करने का भाव है, अपने सभी कर्मों को परम ब्रह्म को अर्पित करना।

श्रोत्रादीनिद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानंन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।२६।

भावार्थ : कई जन संयम रूपी अग्नि में कर्ण आदि इंद्रियों की आहुति देते है, कई जन शब्द आदि विषयों की आहुति देते हैं: २६

व्याख्या : पांच ज्ञानेंद्रियों के पांच विषय पहले भी बताये गये हैं। यहां कर्ण आदि इंद्रियों से आशय, कान, त्वचा, नेत्र, रसना और नाक, ये पांचों ज्ञानेंद्रिय हैं। शब्दादि विषय कहने का तात्पर्य, पांचों ज्ञानेंद्रियों के पांचों विषयों से है। जिस प्रकार कान का विषय शब्द है, उसी प्रकार त्वचा का स्पर्श, नेत्र का रूप, रसना का रस और नाक का गंध है। इन ज्ञानेंद्रियों का संयमपूर्वक प्रयोग करने को भी भगवान यज्ञ का रूप बता रह हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।२७।

भावार्थ : कई जन ज्ञान से जगी हुई आत्मसंयम रूपी योगाग्नि में इंद्रियों तथा प्राणों की क्रियाओं का होम करते है: २७

व्याख्या : व्यक्ति को जब यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ब्रह्मांड का एक अश हूं तो उसके मन सहित सभी इंद्रियों के सभी कार्य-व्यवहार ब्रहमार्पित हो जाते हैं। यहां योगग्नि से तात्पर्य आत्मा के प्रति एकाग्रता से है। आत्मा के प्रति एकाग्रता को समाधि भी कहते हैं। भगवान के वचनों के अनुसार अपनी समस्त क्रियाओं को ब्रह्मार्पित करना भी यज्ञ का एक प्रकार है। अगले तीन लोकों में भगवान यज्ञ करने वालों के अन्य प्रकार बताते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः सशितव्रताः।२८।

भावार्थ : कई जन द्रव्य यज्ञ करने वाले हैं कई तप यज्ञ करने वाले हैं कई योग रूपी यज्ञ करने वाले हैं, कई स्वाध्याय रूपी ज्ञान यज्ञ करने वाले है, कई कठिन व्रत निभाने

वाले यति जन हैं: २८

व्याख्या : लोक-सेवा में धन लगाना द्रव्य यज्ञ है। मनोभावों पर नियंत्रण करना और सहन-शक्ति को बढ़ाना तप यज्ञ है। निष्काम कर्म करना योग-यज्ञ है। सद्ग्रंथों का अध्ययन-मलन करना ज्ञान यज्ञ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रहमाचर्य तथा अपरिग्रह जैसे महाव्रतों को निभाना भी एक यज्ञ है, जिसे यति जन निभाते हैं। भगवान कहते हैं कि अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जो-जो जन आत्मोन्नति के तथा लोकहित के जो कार्य कर रहे हैं, वे सब यज्ञ कर रहे हैं, अन्य यज्ञकर्त्ताओं का उल्लेख भगवान अगले श्लोक में करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽदुपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा:।२९।

भावार्थ : कई योगी जन अपान वायु में प्राण वायु का हवन करते हैं, कई जन प्राण वायु में अपान वायु का हवन करते हैं। कई जन प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम करते हैं: २९

व्याख्या : सांस द्वारा जो वायु भीतर ली जाती है, उसे प्राण कहते हैं। हठ योग की भाषा में प्राण वायु को भीतर लेना 'पूरक' क्रिया है और शरीर के भीतरी अंगों की सफाई करने से प्राण वायु मलयुक्त हो जाती है। इस मलयुक्त वायु को अपान वायु कहते हैं। इस अपान वायु को बाहर निकालना हठयोग की भाषा में रेचक क्रिया है। अपान और प्राण वायु को हठयोग की विधि से बाहर-भीतर रोकना और निकालना प्राणयाम की क्रिया है। प्रसंगानुसार भगवान के वचनों का तात्पर्य यह है कि हमारा शरीर भी एक प्रकार का अग्निकुंड है, जिसमें कापूर; घी, लकड़ी आदि के रूप में प्राण वायु का प्रयोग होता है और राख के रूप में अपान वायु का विसर्जन होता है और प्राणायाम द्वारा उन वायुओं का नियंत्रण करना भी एक प्रकार का यज्ञ है।

अपरे नियताहारा: प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा :।३०।

भावार्थ : कई जन नियमपूर्वक आहार करके प्राणों में प्राणों का हवन करते हैं, ये सब यज्ञों का मर्म जानने वाले हैं। वे इस प्रकार के यज्ञों द्वारा पापों को दूर करते हैं: ३०

व्याख्या : इससे पहले हमने अंदर ली जाने वाली सांस को प्राण कहा है और बाहर छोड़ी जाने वाली सांस को अपान कहा हैं। इस श्लोक में अनेक प्राणों का अनेक प्राणों में हवन करने की बात कही गयी है। वे अनेक प्राण कौन से हैं, उसका उत्तर आयुर्वेद में इस प्रकार है: नाभि से हृदय तक संचार करने वाले वायु का नाम प्राण है। कंठ तथा वाक् को क्रियाशील करने वाले वायु का नाम उदान है। नाभि तथा पेट में स्थित वायु का नाम समान है, गुदा तथा निचले अंगों में स्थित वायु का नाम अपान है। सारे शरीर में रक्तसंचार करने वाली वायु का नाम व्यान है। इन पंच प्राणों का एक-दूसरे में विनिमय होना प्राणों में प्राणों का हवन होना है।

सांस का मनोदशा से विशेष सबंध है। काम-क्रोध के समय सांस का वेग बढ़ जाता है। शांत अवस्था में सांस नियमित हो जाती है। इस श्लोक का भाव यह है कि जिस व्यक्ति ने रसना को वश में करके आहार को नियमित कर लिया है और सांस को नियमित बना लिया है, उससे पाप-कर्म की सम्भावना नही होती।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।३१।

भावार्थ : हे कुरुश्रेष्ठ, यज्ञ से बचे हुए अंश को अमृत मानकर भोगने वाले जन सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यज्ञरहित व्यक्ति का यह लोक नहीं सुधरता, उसके परलोक के सुधरने की क्या आशा हो सकती है: ३१

व्याख्या : अपनी आय के एक भाग को लोकहित के कार्यों में लगाकर उसके उपरांत जो बचता है, उसका उपयोग करना अमृत के समान है। अमृत का सामान्य अर्थ है जो मृत्यु से बचाये। इससे वास्तविक आशय यह है जो मृत्यु के भय से मुक्त करे।

परलोक या पुनर्जन्म का आधार इस जन्म के कर्म होते हैं। इस जन्म के कर्मों के संस्कार अगले जन्म की दिशा निश्चित करते हैं। यदि इस लोक अर्थात् इस जन्म के कर्म अच्छे नहीं हैं, तो परलोक अर्थात् अगला जन्म कैसे सुधर सकता है?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।३२।

भावार्थ : इस प्रकार के अनेक यज्ञ वेद में कहे गये हैं। ये सब यज्ञ कर्म से उत्पन्न होते हैं, इनको जानने से तू मोक्ष पायेगा: ३२

ज्ञान यज्ञ, उसकी पात्रता और फल

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।३३।

भावार्थ : हे परंतप अर्जुन, द्रव्य द्वारा किये जाने वाले हर प्रकार के यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि हे पार्थ, सभी कर्मों का अंतिम फल ज्ञान है: ३३

व्याख्या : अनेक प्रकार के यज्ञ बताने के बाद भगवान सर्वश्रेष्ठ यज्ञ 'ज्ञान' को ठहराते हैं। यह ज्ञान आत्मा-परमात्मा का ज्ञान है। उस ज्ञान के प्राप्त करने का उपाय भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।३४।

भावार्थ : ज्ञान-प्राप्ति के लिए तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी जनों के पास जा। वे तेरे सेवाभाव को देखकर विनयपूर्वक किये गये तेरे परिप्रश्नों के अनुसार तुझे उपदेश देंगे: ३४

व्याख्या : इस लोक में भगवान ने अर्जुन को प्राचीन गुरु-शिष्य परंपरा के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने की विधि बताई है। आत्मा-परमात्मा का जान 'तत्व ज्ञान' है। परिप्रश्न से तात्पर्य है, जिज्ञासा पूर्वक किया जाने वाला प्रश्न। किसीकी बुद्धि की जांच-परख करने या वाद-विवाद की दृष्टि से किये जाने वाले प्रश्न परिप्रश्न नहीं कहलाते। तत्त्व ज्ञान शुलह देकर प्राप्त नहीं होता, विनय और सेवाभाव से प्राप्त होता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।३५।

भावार्थ : हे पाँडुपुत्र, इस ज्ञान को पाकर तू मोह के बंधन से मुक्त हो जायेगा और तू सभी प्राणियों में, अपने में और मुझमें कोई भेद नहीं देखेगा: ३५

व्याख्या : अर्जुन को युद्धभूमि में अपने-पराये का मोह हुआ है। भगवान कहते हैं, जब तू यह जान लेगा कि पंचभूतयुक्ता सभी प्राणियों में एक ही आत्मा समाया है, वही

तुममें है, वही आत्मा सारे ब्रह्मांड में व्याप्त है, तो तेरा मोह नष्ट हो जायेगा।

अपि चेदसि पापेभ्य: सर्वेभ्य: पापकृत्तमः।
सर्व ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। ३६।

भावार्थ : यदि तू सभी पापियों से बड़ा पापी हो तो भी ज्ञान रूपी नौका से पाप रूपी सागर को पार कर जायेगा: ३६

व्याख्या : भगवान अर्जुन को तसल्ली देते हैं कि तुम पापी नहीं हो, यदि बहुत बड़े पापी हो तो भी आत्मा के ज्ञान का इतना प्रभाव है कि यह बड़े-से-बड़े पाप को नष्ट कर देता है। यहां 'पापी' शब्द इसलिए लाया गया है कि अर्जुन युद्ध में संबंधी जनों को मारने का कार्य पापकर्म समझकर युद्ध से भागना चाहता है। भगवान उसे तसल्ली देते हैं कि आत्मा की अमरता, कर्मों में अनासक्ति भाव आदि के विषय में जानने के उपरांत व्यक्ति पाप-पुण्य के भाव से मुक्त हो जाता है। जब कार्य करते समय कर्त्ता का भाव समाप्त हो जायें तो व्यक्ति परमात्मा की कलछी बन जाता है। उसके लिए पाप-पुण्य, जैसे शब्द निरर्थक हो जाते हैं।

यथैधांसि समिन्द्धोऽग्निर्भस्मसास्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। ३७।

भावार्थ : हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को राख बना देती है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है: ३७

व्याख्या : कर्मों का अच्छा-बुरा फल समाप्त होना, कर्मों का भस्म होना है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। ३८।

भावार्थ : इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाली कोई वस्तु नहीं है। लंबे समय से कर्मयोग की साधना करने वाला व्यक्ति कुछ काल के उपरांत इस ज्ञान को अपनी आत्मा में प्राप्त कर लेता है: ३८

व्याख्या : इससे पहले भगवान ने कहा कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए ज्ञानी जनों के पास जाकर विनयपूर्वक जिज्ञासा करो। इस; श्लोक में भगवान अर्जुन के इस संभावित प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि यदि ज्ञानी जनों से संपर्क न हो पाये तो क्या व्यक्ति अज्ञानी रह जाये? भगवान कहते हैं कि ऐसी स्थिति में निराश होने की आवश्यकता नहीं है। कर्मयोग की साधना करते-करते, समय आने पर व्यक्ति अपने भीतर आत्मा-परमात्मा का ज्ञान अनुभव कर लेता है। अपने आप ज्ञान के अनुभव करने की योग्यता के विषय में अगले श्लोक में भगवान बताते हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान तत्पर: संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। ३९।

भावार्थ : इंद्रियों का संयम करने वाला यत्नशील तथा श्रद्धावान व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्ञान-प्राप्ति से तत्काल परम शांति प्राप्त होती हे: ३९

व्याख्या : हम सभी विषयों में पारंगत नहीं हो सकते, कुछ ही विषयों की गहराई में स्वयं जा सकते हैं, अन्य अनेक विषयों पर दूसरे के अनुभव-अनुसंधानों पर विश्वास करना पड़ता है। धार्मिक क्षेत्र में इसी विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। इंद्रियों को बुद्धि के अनुसार कार्य में लगाने और आत्मा-परमात्मा के विषय में मनीषियों के अध्ययन-सार

को श्रद्धापर्वुक स्वीकार कर लेने से अतीव शांति प्राप्त होती है। उसके विपरीत, इस विषय में भगवान अगले श्लोक में कहते हैं।

अज्ञचाश्रहधानश्व संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुख संशयात्मन:।४०।

भावार्थ : अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशय करने वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है। संशय करने वाले व्यक्ति को न इस लोक में सूख मिलता है, न ही परलोक में सुख मिलता है: ४०

व्याख्या : ज्ञान या तो अपने प्रयत्नों सें प्राप्त होता है या अपने से अधिक ज्ञानी जनों के संपर्क से प्राप्त होता है। जो व्यक्ति स्वयं नहीं जानता, दूसरे के अनुभवों पर विश्वास नहीं करता, ऐसा व्यक्ति हर समय अनिश्चय की स्थिति में रहता है। ऐसे व्यक्ति को शांति प्राप्त नहीं हो सकती। जिसे इस जन्म में शांति नहीं मिली, उसे अगले जन्म में कैसे शांति मिलेगी। क्योंकि यही जन्म ही अगले जन्म की भूमिका है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबघ्नन्ति धनंजय।४१।

भावार्थ : हे धनंजय, कर्मयोग की साधना के द्वारा जिसने कर्मों के फल को त्याग दिया है, जिसने ज्ञान द्वारा संशय को काट दिया है, ऐसा आत्मबल ये युक्त व्यक्ति कर्मबंधन से मुक्त होता है: ४१

व्याख्या : आत्मा की अमरता तथा अनासक्ति के विषय में भगवान के इस उपदेश के बावजूद अर्जुन पितामह, आचार्य पर शस्त्र चलाने का निर्णय नहीं कर पा रहा है। इस अनिश्चय की स्थिति को संशय कहते हैं। उसे इस अनिश्चय की स्थिति से निकालने के लिए भगवान कहते हैं :

तस्माद्ज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।४२।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, अज्ञान से उपजे संशय को ज्ञान रूपी अस्त्र से काट। कर्मयोग का आश्रय ले और उठ खड़ा हो: ४२

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्याय:॥४॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'ज्ञान, कर्म, संन्यास योग' नामक चौथा अध्याय संपूर्ण हुआ।

पांचवां अध्याय

कर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय की पुष्पिका के अनुसार कई विद्वानों ने इस अध्याय का मुख्य विषय 'संन्यास' कहा है, किन्हीं ने कर्मसंन्यास कहा है। संन्यास का अर्थ है त्याग। कर्मसंन्यास का अर्थ हुआ कर्मों का त्याग।

कर्मों के त्याग का विषय गीता की मूल भावना के विपरीत है, इसलिए अधिकतर ज्ञानी जन कर्म संन्यास का अर्थ कर्मों के फल का त्याग लगाते हैं। इस अध्याय का पारायण करते हुए भी कर्मों के फल का त्याग ही ठीक प्रतीत होता है। इस अध्याय में सांख्ययोग, ज्ञानयोग और संन्यास शब्दों का समान अर्थों में प्रयोग किया गया है और कर्मयुक्त संन्यास की प्रशंसा की गयी है।

ध्यानयोग और भक्तियोग का हल्का-सा परिचय भगवान ने इस अध्याय के अंतिम भाग में दिया है।

पिछले अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान ने अर्जुन को अज्ञान से उपजे संशय को ज्ञान रूपी अस्त्र से काटकर उठ खड़ा होने की आज्ञा दी है। यदि अर्जुन उस आज्ञा का पालन करने को उठ खड़ा होता और धनुष-बाण उठा लेता तो गीता समाप्त हो जाती, किंतु अर्जुन का संशय अभी बना हुआ है। वह भगवान के आदेश का पालन करने की बजाय यह पूछता है:

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे श्रीकृष्ण, आप कर्मसंन्यास और कर्मयोग, इन दोनों की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में जो मेरे लिए निश्चयपूर्वक कल्याणकारी हो, मुझे वह बताइए: १

व्याख्या : भगवान ने पिछले अध्याय में कर्मों के त्याग की कहीं प्रशंसा नहीं की है। कर्म, अकर्म, विकर्म की व्याख्या की है। अकर्म को भी कर्म का एक रूप कहा है, किंतु अर्जुन अपने सैनिक कर्म को त्यागने की दृढ़ इच्छा किये हुए है, इसलिए भगवान के शब्दों में कहीं-न-कहीं उस समय के कर्म, युद्ध से बचने का कोई सूत्र ढूंढना चाहता है। तीसरे अध्याय के आरभ में अर्जुन ने जो बात कही थी, लगभग वही बात इस अध्याय के आरंभ में वह कह रहा है। भगवान अर्जुन की मोहग्रस्त मनस्थिति को भांप लेते हैं। उस पर रुष्ट होकर यह नहीं पूछते कि मैंने कब कर्मों के त्याग की प्रशंसा की, बल्कि अर्जुन के वर्तमान प्रश्न पर अपना निश्चित मत प्रकट करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

संन्यास: कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।२।

भावार्थ : भगवान बोले, कर्मसंन्यास और कर्मयोग, ये दोनों परम कल्याणकारी हैं, फिर भी कर्मसंन्यास की तुलना में कर्मयोग निश्चय ही अच्छा है: २

व्याख्या : यहां अर्जुन और श्रीकृष्ण के संवाद से यह प्रतीत होता है कि भगवान के

अवतार काल में निष्कर्मता को संन्यास मानने वालों का वाद प्रबल हो रहा था और अर्जुन को अपने स्वाभाविक कर्म से भागने के लिए यह निष्कर्मता का वाद जंच रहा था। भगवान कर्मसंन्यास को बुरा नहीं कहते, किंतु उसकी तुलना में कर्मयोग को अधिक श्रेष्ठ कहते हैं।

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है किए भगवान रणभूमि में सैनिक अर्जुन से संबोधित हैं। अर्जुन बहिर्मुखी है। ज्ञानमार्ग के लिए अंतर्मुखता चाहिए। भगवान जानते हैं कि अर्जुन के लिए कर्मयोग का मार्ग सुगम है।

अगले श्लोक में भगवान संन्यासी की विशेषताएं बताकर अर्जुन के मन में संन्यासी के विषय में फैला भ्रम दूर करते हैं।

वास्तविक संन्यासी कौन है?

ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते। ३।

भावार्थ : हे महान् भुजाओं वाले अर्जुन, जो व्यक्ति न किसी से द्वेष करता है न किसी से आकांक्षा रखता है, वह पूरा संन्यासी है और वह बड़ी सरक्ता से रागद्वेषादि सांसारिक बंधनों से मुक्त होता है: ३

व्याख्या : इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि संन्यास के लिए घर-द्वार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि द्वेष, आकांक्षा आदि से मुक्त होने की आवश्यकता है भगवान आगे कहते हैं

मार्ग अनेक और मंजिल एक

सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्। ४।

भावार्थ : सांख्य अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्मों का त्याग और कर्मयोग, इन दोनों का फल भिन्न-भिन्न मानने वाले अज्ञानी हैं। पंडित जन जानते हैं कि इन दोनों में से किसी भी मार्ग पर भली-भांति चलने से दोनों का फल प्राप्त होता है: ४

व्याख्या : इन दोनों का फल क्या है? यह अगले श्लोक में भगवान बताते हैं।

यत्साँख्यै: प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते।
एक सांख्यँ च योग च य: पश्यति स पश्यति। ५।

भावार्थ : ज्ञानयोगी जिस मोक्ष रूपी मंजिल पर पहुंचता है, वहीं कर्मयोगी भी पहुंचता है। अत: इन दोनों मार्गों को जो एक जैसा मानता है, वास्तव में वही ज्ञानी है: ५

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि वास्तविक कर्मयोगी और वास्तविक ज्ञानयोगी में कोई अंतर नहीं है। इन दोनों में से अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किसी एक मार्ग पर निष्ठापूर्वक चलने से व्यक्ति का कल्याण है। जो कभी ज्ञानयोग साधे और वहां से थककर कभी कर्मयोग साधे, वह भटकता रहता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुयोगत:।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिपच्छति। ६।

भावार्थ : अब हे महाबाहु अर्जुन, बिना कर्मयोग के संन्यास अर्थात् कर्तापन का त्याग कठिन है। कर्मयोगी शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है: ६

व्याख्या : संन्यास की परम उपलब्धि ब्रह्म है। उस ब्रह्म तक पहुंचने के लिए भगवान कर्मयोग को छोटा और सरल मार्ग बताते हैं। कर्मयोग से तात्पर्य निष्काम कर्म है। कामनापूर्ण कर्म, कर्मयोग की श्रेणी में नहीं आता।

कर्मलेप से मुक्ति के उपाय

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय:।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।७।

भावार्थ : जो व्यक्ति कर्मयोग में लगा है, जिसका अंत:करण शुद्ध है, जिसने अपने मन उगैर इंद्रियों को, जीत लिया है, जो सब प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान मानता है, वह कर्म करते हुए भी कर्म के दोषों से लिप्त नहीं होता: ७

व्याख्या : मन और इंद्रियों के भटकने के कारण व्यक्ति अनुचित कर्म करता है वास्तविक कर्मयोगी इंद्रियों को जीत लेता है। सब प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान मानने वाला व्यक्ति किसी का बुरा नहीं कर सकता, इसलिए उसके कर्म दोष रहित होते हैं। अगले श्लोक में सांख्ययोगी के विषय में भगवान बताते हैं।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्पञ्श्वसन्।८।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।९।

भावार्थ : परम तत्त्व ब्रह्म को जानने वाला सांख्ययोगी देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, मल-मूत्र का त्याग करता है। ग्रहण करता है, विसर्जन करता, आंखों को खोलता, बंद करता हुआ यह मानता है कि सभी इंद्रियां अपने-अपने विषयों के अनुसार कार्य कर रही है। मैं कुछ नहीं कर रहा हूं: ८, ९

व्याख्या : इन दो श्लोकों में भगवान ने सभी ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों का ब्यौरा एक-एक करके गिना दिया है। ये दोनों श्लोक सांख्य मत के अनुसार हैं जिसका तात्पर्य है, सभी कार्य पच भूतों तथा तीन गुणों से युक्त प्रकृति करतीं है। मन, बुद्धि और अहंकार भी प्रकृति के अंश हैं। भगवान सांख्ययोगी को कर्त्तापन के अहंकार से मुक्त होने के लिए कह रहे हैं और बता रहे हैं कि आत्मा की उपस्थिति में पेच भूतों से युक्त शरीर से यह कर्म होते हैं। इससे आत्मा का कर्त्ता भाव समाप्त हो जाता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं: त्यक्त्वा करोति य:।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।१०।

भावार्थ : जो व्यक्ति कर्मफल के प्रति आसक्ति को त्यागकर कर्मों को ब्रह्म के अर्पण करता है, वह व्यक्ति अपने कर्मों के पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता: १०

व्याख्या : ककल का पत्ता भारतीय संस्कृति में अनासक्ति का प्रतीक है। वह जल के मध्य से उगता है, किंतु उसे जल स्पर्श नहीं करता। इस श्लोक का भाव है कि यदि सभी कर्मों को ब्रह्मार्पण कर दिया जाये, तो व्यक्ति संसार में रहकर भी सभी कर्म करते हुए पाप-पुण्य में लिप्त नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग: त्यकत्वात्मशुद्धये। ११।

भावार्थ : योगी जन आसक्ति त्यागकर अंतःकरण की शुद्धि के लिए शरीर से, मन से, बुद्धि से और इंद्रियों से कर्म करते हैं: ११

व्याख्या : यहां योगी से तात्पर्य ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनों है। शरीर से तात्पर्य कर्मेंद्रियां है और इंद्रियों से आशय ज्ञानेंद्रियां है। मन, बुद्धि और इंद्रियां प्रकृति के कर्म हैं। इस प्रकार के कर्म, जिनमें फल की इच्छा न हो, वे बंधनकारक नहीं होते, अपितु अंतःकरण की शुद्धि का कार्य करते हैं।

युक्त: कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्त: कामकारेण फले सक्तो निबध्यते। १२।

भावार्थ : कर्मयोगी कर्मफल की इच्छा त्यागकर, स्थायी शांति प्राप्त करते हैं और जो व्यक्ति कामना पूरी करने के लिए कर्म करता है, कामना से बंधा रहता है: १२

व्याख्या : कामनाएं कभी तृप्त नहीं होतीं, इसलिए सकामी व्यक्ति को अपनी कामना को पूर्ण करने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। अत: भगवान का आदेश है कि कर्म के त्याग से व्यक्ति बंधन-मुक्त नहीं होता, कामनाओं के त्याग से, कर्मफल के त्याग से बंधनमुक्त होता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुख वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्। १३।

भावार्थ : इंद्रियों को वश में करके, मन से अपने कर्मों का त्याग करने वाली आत्मा नौ द्वारों वाली देहरूपी पुरी में न कुछ करती, न कुछ कराती हुई। उस देहरूपी नगरी में सुख से निवास करती है: १३

व्याख्या : दो कान, दो आंखें, दो नासिका-छिद्र, एक मुख, एक जनन-अंग, एक गुदा, ये शरीर रूपी नगरी के नौ द्वार हैं। इन्हीं द्वारों से गंध, रूप, रस, सांस का आदान-प्रदान भीतर बैठे आत्मा की उपस्थिति से होता है। आत्मा न रहे तो इन द्वारों के होते हुए भी बाहर से भीतर का, भीतर से बाहर का आदान-प्रदान बंद हो जाता है, उसी को मृत्यु कहते हैं। आध्यात्मिक भाषा में मृत्यु को आत्मा द्वारा देहत्याग करना कहा जाता है। भाव यह है कि चेतन तत्त्व आत्मा यदि इस शरीर रूपी नगरी में अतिथि की तरह रहता है तो उसे कर्मों का लेप नहीं लगता। यदि कर्त्ता होने का अहंकार मन में पालता है तो कर्मों में लिप्त हो जाता है। यदि इंद्रियों के कर्मों को मन से अलग कर दिया जाये तो इंद्रियां वश में हो जाती हैं और आत्मा से कर्म का संबंध नहीं रहता। करने-कराने वाली इंद्रियां रह जाती हैं। मन के बिना इंद्रियों को कर्मों में रस नहीं मिलता, इसलिए वे इंद्रियां गलत राह पर जा नहीं सकतीं। आत्मा और इंद्रियों के मध्य का सेतु मन है, इसलिए भगवान ने मन: द्वारा कर्मों का त्याग करने के लिए कहा है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु:।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते। १४।

भावार्थ : प्रभु किसी के कर्त्तापन, उसके कर्मों को और उसके कर्मों के फल को नहीं रचता है। उसकी उपस्थिति से प्रकृति में ये सब क्रियाएं होती है: १४

व्याख्या : प्रभु परम आत्मा की उस शक्ति को कहते हैं, जो सबका स्वामी है। प्रभु का अश आत्मा है। जिस प्रकार सूर्य की उपस्थिति से वनस्पति उगती है, पकती है,

सूखती है, बादल बनते हैं, बरसते हैं, किंतु सूर्य उनसे तटस्थ रहता है, उसी प्रकार प्रभु के अंश आत्मा की उपस्थिति से शरीर में क्रियाएं होती हैं।

पूर्व श्लोक के विषय को अगले श्लोक में भगवान इस प्रकार विस्तार देते हैं:

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तवः।१५।

भावार्थ : सर्वव्यापी परमात्मा किसी के पुण्य, किसी के पाप को ग्रहण नहीं करता, ज्ञान पर जो अज्ञान का पर्दा पड़ा रहता है, उससे प्राणी मोह मे पड़ते है १५ प्र

व्याख्या : इससे पहले भगवान अर्जुन को अनेक बार कह चके हैं कि कर्म करके उसका फल ब्रह्म को अथवा मुझको अर्पण कर दो। अब कह रहे हैं कि परमात्मा न किसी के पुण्य लेता है, न ही पाप को लेता है। वास्तव में इस श्लोक द्वारा भगवान यह कह रहे हैं कि प्रभु को तुम्हारे कर्मफलों की आवश्यकता नहीं है, तुम्हें उन फलों से मुक्ति मिलने का कारण तुम्हारी अपनी श्रद्धा है, तुम्हारी अपनी समर्पण भावना है। इस ज्ञान के होते ही अज्ञान और मोह दूर हो जाते हैं।

क्या सभी जीव अज्ञान से मोहित हो रहे है? इस संभावित प्रश्न का उत्तर भगवान अगले श्लोक में देते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।१६।

भावार्थ : जिन व्यक्तियों का अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान परम आत्मा को प्रकाशित कर देता है: १६

व्याख्या : यहां आत्मज्ञान की तुलना सूर्य से करके भगवान कह रहे हैं कि परम आत्मा की सत्ता सदा से है। अज्ञान के अंधेरे के कारण उस सत्ता को हम देख नहीं पाते। जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा और परम आत्मा एक हैं तो अंधेरा छंट जाता है। उस प्रकाश का फल क्या होता है, यह अगले श्लोक में बताते हैं।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।१७।

भावार्थ : जिनकी बुद्धि परम आत्मा में एकता अनुभव करती है, जिनका अंत-करण उसी में लीन होता है, उस आत्मज्ञान से उनके पाप धुल जाते हैं और वे वहां पहुंचते हैं, जहां से लौटना नहीं होता: १७

ज्ञानी जन की सम-दृष्टि

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।१८।

भावार्थ : ऐसे ज्ञानी जन विद्वान् और विनम्र ब्राह्मण तथा गऊ, हाथी, कुत्ते और चांडाल को समभाव से देखते हैं: १८

व्याख्या : ज्ञानी जनों के लिए न कोई ऊंचा है न नीचा। ऊंच-नीच का भेद अज्ञानी जनों में होता है। ज्ञानी जन किसी को निकृष्ट मानकर उससे घृणा नहीं करते।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि सम ब्रहामनस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।१९.।

भावार्थ : जिनके मन में ऐसा समता का भाव आ जाता है, वे जीते जी संसार को

जीत लेते हैं, क्योंकि वे दोष रहित परमब्रह्म के समान है और वे ब्रह्म में ही स्थित हैं: १९

व्याख्या : ब्रह्मा की दृष्टि में सभी जीव उपयोगी हैं, इस भाव को पूरी तरह अंगीकार करने वाले ब्रह्म के समान होते हैं। जो अपने आपको जीत लेते हैं, वे मानो संसार के विजेता हैं। ब्रह्म स्थित व्यक्ति के अन्य लक्षण भगवान आगे बताते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्धिजेत्प्राप्त्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित:।२०।

भावार्थ : जो व्यक्ति प्रिय को पाकर हर्षित न हों, अप्रिय को पाकर उंद्विग्न न हो, जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो मोहरहित है, वह ब्रह्म को जानने वाला है, वही ब्रह्म में एकरूप है: २०

व्याख्या : आत्मा को जानना ब्रह्म को जानना है, ब्रह्म को जानना आत्मा को जानना है। ऐसे आत्मज्ञानी को पंसद-नापसंद की अनुभूतियां, सागर में उठने वाले ज्वार-भाटे की तरह आंदोलित नहीं करतीं।

ब्राह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।२१।

भावार्थ : इंद्रियों द्वारा बाहर से प्राप्त होने वाले सुखों से मन को हटाकर अपने भीतरे झांकने वाला व्यक्ति अंत:करण में ब्रह्म को पाकर अक्षय सुख प्राप्त करता है: २१

व्याख्या : इस बात को अधिक स्पष्टता से अगले श्लोक में कहते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय न तेषु रमते बुध: ।२२।

भावार्थ : इंद्रियों से प्राप्त होने वाले सुख कभी उत्पन्न होते हैं और कभी नष्ट होते हैं। वे अस्थायी है,, इसलिए वे दु:ख के कारण हैं। हे कुंतीपुत्र अर्जुन, ज्ञानी जन उनमें नहीं रमते: २२

शक्नोतीहैव य: सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोभदवं वेंग स युक्त: स सुखी नर:।२३।

भावार्थ : इस शरीर के छूटने से पहले जो व्यक्ति काम और क्रोध के वेग को सह सकता है, वही योगी है, वही सुखी है: २३

योऽन्त: सुखोपुन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य:।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।२४।

भावार्थ : जो अपने में सुखी है, अपने में आनंद पाता है, जिसके अपने अंदर ज्ञान की ज्योति प्रकाशित है, वह योगी ब्रह्मस्वरूप होता है और ब्रह्म में विलीन हो जाता है: २४

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने सांख्ययोगी के लक्षण बताये हैं। वह अंतर्मुखी होता है। उसे अपने भीतर प्रकाश मिलता है और वह अपनी आत्मा और परम आत्मा में कोई भेद अनुभव नहीं करता। यही अनुभूति ही ब्रह्म में लीन होना है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय: क्षीणकल्मषा:।
छिन्नद्वैधा यतात्मान: सर्वभूतहिते रता:।२५।

भावार्थ : ज्ञान द्वारा जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जो संशय और दुविधा से मुक्त हैं, जिन्होंने अपने-आपको वश में कर लिया है, जो सभी प्राणियों के हित में लगें रहते हैं, वें

ऋषि परमब्रह्म में लीन होते हैं: २५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।२६।

भावार्थ : जो काम-क्रोध से रहित हैं, जिनका मन वश में है, जिन्होंने इन अनुभूतियों से अपने-आपको जान लिया है, उन्हें अपने चारों ओर ब्रह्म ही ब्रह्म का अनुभव होता है: २६

व्याख्या : इन तीन श्लोकों में भगवान ने अंतर्मुखी जनों को कहीं योगी, कहीं ऋषि विशेषण दिये हैं और अगले श्लोक में उन्हें भगवान मुनि विशेषण दे रहे हैं और साथ ही इंद्रियां, मन और बुद्धि को वश में करने के लिए ध्यानयोग की एक विधि बता रहे हैं।

ध्यानयोग की भूमिका

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।२७।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।२८।

भावार्थ : शब्द आदि बाहर के विषयों को मन से हटाकर, दोनों भौंहों के बीच दृष्टि एकाग्र करके, नासिका छद्रों से आने-जाने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, मन और बुद्धि को वश में करके, जिन मोक्ष परायण मुनि के इच्छा, भय और क्रोध दूर हो गये हैं, वे सदा मुक्त हें: २७, २८

व्याख्या : मन, बुद्धि तथा इंद्रियों को बाहर के विषयों से हटाकर उन्हें अपने भीतर कहीं लगाना होगा, अन्यथा वे बाहर भटकते रहेंगे। उसका सबसे पहला उपाय है, दृष्टि को भौंहों के मध्य टिकाना। भौंहों के मध्य का भाग वह है, जहां स्त्रियां बिंदी लगाती हैं, परुष माथे में तिलक का केंद्र बिंदु बनाते हैं। तंत्र की भाषा में इस स्थान को आज्ञाचक्र कहते हैं।

इस आज्ञाचक्र को दृष्टि का केंद्र बनाने से साधक को अपने शरीर के भीतर ध्यान लगाने का आधार मिल जाता है और व्यक्ति बाहरी संपर्कों से कट जाता है।

गीता के कुछ व्याख्याकार इस स्थान पर दृष्टि एकाग्र करने का यह अर्थ लगाते हैं कि खुली आंखों से उस स्थान को बिना पलक झपकाये देखना। यह विधि त्राटक है, किंतु गीता विमर्श नामक गीता के व्याख्याकार स्वामी रामानंदजी इस श्लोक के अर्थ में लिखते हैं कि बंद आंखों से भी ध्यान लगाया जा सकता है।

जिस प्रकार मंत्र का पाठ करने के लिए वाक् इंद्रिय जिह्वा का सहारा लिया जाता है और उसी मंत्र का मन-ही-मन पाठ भी किया जा सकता है, उसी प्रकार बंद आंखो से भी दृष्टि केंद्रित की जा सकती है जो हमारे अनुभव के अनुसार उचित है। इससे अंतर-नेत्र खुलते हैं।

आजकल तो दर्पण को सामने रखकर स्त्रियां बिंदी लगाती हैं और दर्पण की परछाईं में तिलकधारी तिलक लगाते हैं। इससे बिंदी भले ही सुगमता से लग जाती है, किंतु आज्ञाचक्र जाग्रत नहीं होता। यदि बिना दर्पण के भौंहों के बीच ध्यान टिकाकर नित्य बिंदी लगाई जाये तो फलस्वरूप अंतर-नेत्र खुल जाते हैं। अभ्यास से आज्ञाचक्र जाग्रत हो जाता है। नित्य बिंदी और तिलक लगाने का वास्तविक आशय यही था।

भौहों के मध्य ध्यान टिकाने के साथ सांस को सम करने का आदेश भी है। नासिका के छिद्रों द्वारा अंदर ली जाने वाली: वायु प्राण और बाहर छोड़ी जाने वाली वायु अपान को सम करने से आशय है कि प्राण और अपान की गति एक जैसी हो। जितना समय सांस को भीतर लेने में लगे, उतना समय सांस को बाहर छोड़ने के लिए दिया जाये। मन की चंचलता का साँस से विशेष संबंध है। साँस की गति धीमी रखने से मन को वश में करने में सुविधा होती है और इच्छा भय और क्रोध दूर होते हैं और मोक्ष प्राप्त होता है।

इस अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान 'भक्तियोग' का भी सूत्र देते हैं कि जो व्यक्ति ध्यान-विधि से अपनी इंद्रियों कों बाहर से अपने भीतर नहीं समेट सकता है, वह भक्तियोग के आश्रय से भी वही शांति प्राप्त कर सकता है जो ध्यान योग से मिलती है। इस बात को अगले श्लोक में भगवान परम ब्रह्म के लहजे में कहते हैं।

भक्तियोग की भूमिका

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृद सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।२९।

भावार्थ **:** हे अर्जुन, जो मुझे सभी यज्ञों और तपों का भोक्ता समझता है, मुझे सभी लोकों का महेश्वर और सभी प्राणियों का हितैषी मानता है वह शांति प्राप्त करता है: २९

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पन्चमोऽध्याय:॥५॥

श्रीमद् भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र-विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पांचवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

छठा अध्याय

ध्यानयोग

गीता के कई टीकाकारों ने इस अध्याय की पुष्पिका में इस अध्याय का मुख्य विषय 'आत्मसंयम योग' लिखा है और कइयों ने 'ध्यानयोग' लिखा है।

बिना आत्मसंयम के 'ध्यान' एक स्थान पर नहीं टिकता, इसलिए विषय की दृष्टि से दोनों पुष्पिकाएं एक-दूसरे का अनुमोदन करती हैं, फिर भी ध्यान की विधि इस अध्याय का मुख्य विषय है।

मन को इंद्रियों के विषयों से अलग करने के लिए मन को कहीं जोड़ना पड़ता है। वह जोड़ने योग्य तत्त्व आत्मा है। अन्य विषयों से कटते ही आत्मतत्त्व अनुभव होने लगता है और मन आत्मा से जुड़ जाता है।

अर्जुन को आत्मसंयम द्वारा ध्यान में टिकना कठिन लगता है। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि कोई व्यक्ति संयम के मार्ग पर चले किंतु ध्यान समाधि के सिद्ध होने से पहले उसकी मृत्यु हो जाये, या कोई अन्य अड़चन आ जाये तो उसकी क्या गति होती है। अर्जुन की यह आशंका एक सामान्य व्यक्ति की आशंका है। सामान्य व्यक्ति किसी भी दिशा में प्रयत्न करने से पहले उसके हानि-लाभ के सभी पक्षों को देखना चाहता है। उसका यह सोचना सहज स्वाभाविक है कि ध्यान के लिए बाहरी संसार से नाता टूट जाये, किंतु किसी बाधा के कारण वह परम आत्मा से जुड़ न सके तो वह कहीं का नहीं रहेगा। इस अध्याय में भगवान उसकी इस आशंका का निवारण करते हैं कि ध्यान मार्ग पर उठाया हुआ एक भी पग बेकार नहीं जाता, इस जन्म के प्रयत्न अगले जन्म में फल देते हैं, इत्यादि।

ध्यानयोग का विषय पिछले अध्याय के अंतिम भाग में आरंभ हो चुका है। इस अध्याय में यह विषय पूर्णता को पहुंचा है।

पिछले अध्याय के संन्यास के विषय को जारी रखते हुए भगवान इन वचनों के साथ इस अध्याय का आरंभ करते हैं:

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।१।

भावार्थ : श्री भगवान बोले, जो व्यक्ति कर्मफल की इच्छा छोड़कर कर्त्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। कर्मों को त्यागने वाला और अग्नि को त्यागने वाला संन्यासी नहीं है: १

व्याख्या : प्राचीन काल में अग्नि का तात्पर्य रसोई से भी था और हवन आदि कर्मकांड से भी था। संन्यासी उसे कहते थे, जिसका दायित्व परिवार की सीमा से निकलकर, सारे समाज के प्रति, सारे विश्व के प्रति हो जाता था।

संन्यासी के भरण-पोषण की जिम्मेवारी भी समाज पर थी, इसलिए उसे अपने लिए अन्न स्वयं नहीं पकाना पड़ता था, बल्कि भिक्षा पर निर्वाह करना पड़ता था। संन्यासी हवन आदि कर्मकांड करने से भी मुक्त था, इसलिए संन्यासी को निरग्नि या अग्नि का त्यागी कहते थे।

भगवान के इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि उनके अवतार काल में आलसी जन कर्त्तव्य कर्मों से भागकर भिक्षावृत्ति पर निर्भर होने लगे थे। संन्यासी के बाने में ऐसे जन आज भी दिखाई देते हैं।

भगवान अर्जुन के माध्यम से हम सबको यह बता रहें हैं कि कर्त्तव्य कर्मों का त्याग करके भिक्षावृत्ति को अपनाने वाला वास्तविक संन्यासी नहीं है बल्कि लोकसेवा के कार्य करते हुए उन कर्मों के फल का त्याग करने वाला वास्तव में संन्यासी है।

अग्नि का त्याग बाहरी त्याग है, जो दिखाई देता है, कर्मफल के प्रति आसक्ति का त्याग भीतरी त्याग है। यह त्याग दिखाई नहीं देता।

भगवान इस श्लोक द्वारा बाहरी त्याग को महत्त्व नहीं देते, भीतरी त्याग को महत्त्व दे रहे हैं। इससे पहले तीसरे अध्याय के आरंभ में भगवान बता चुके हैं कि सांख्ययोग और कर्मयोग में कोई अंतर नहीं है, जो अंतर दिखाई देता है, वह व्यक्तियों में भेद के कारण होता है। इस अध्याय के अगले श्लोक में लगभग वही बात वे संन्यासी और कर्मयोगी के विषय में कहते हैं।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।२।

भावार्थ : हे पाण्डुपुत्र, सामान्य जन जिसे संन्यास कहते हैं, उसे तू योग जान, क्योंकि कर्मफल की आशा का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं होता:।२।

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने फल की आशा के त्याग को कर्मयोगी और संन्यासी की आवश्यक शर्त बताकर कर्मयोगी और संन्यासी का अंतर समाप्त कर दिया है। यदि कोई मनुष्य अग्नि का त्याग करने के उपरांत उस त्याग का फल चाहता है तो वह निरग्नि होने के बावजूद संन्यासी नहीं है, वह फल चाहे मठ के रूप में हो या सम्मान के रूप में हो या यश के रूप में हो।

दूसरी ओर एक सामान्य गृहस्थ, जिसने अग्नि का त्याग नहीं किया, अर्थात् जो घर में रसोई बनाता है किंतु यदि उसने कर्मों के फल का त्याग किया है, वह गृहस्थ भी संन्यासी है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते।३।

भावार्थ : योगमार्ग की ओर बढ़ने वाले मुनि के लिए कर्म साधन है और योग का फल शम है, अर्थात् मानसिक शांति है: ३

व्याख्या : यहां मुनि का अर्थ है, मननशील व्यक्ति, जो वाचाल नहीं है, मौन रूप से अपने ध्येय की ओर बढ़ता रहता है।

बिना कर्म किये उस ध्येय की पराकाष्ठा तक नहीं पहुंचा जा सकता। कर्म के लिए रजोगुण की मात्रा चाहिए, उस लक्ष्य तक पहुंचने के उपरांत सतोगुण की मात्रा बड़े, अन्यथा अंधी दौड़ पुन: अशांति को जन्म देती है। जबकि योग का ध्येय शग अर्थात् मानसिक शांति है।

योग में स्थिर व्यक्ति के लक्षण

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।४।

भावार्थ : जब मनुष्य इद्रियों के भोगों में आसक्त नहीं होता, और कर्मों के फल में भी आसक्त नहीं होता और जो मन की इच्छाओं को भी त्याग देर, है, ऐसा व्यक्ति योग में स्थिर कहा जाता है: ४

व्याख्या : यहां योग से अभिप्राय ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग, इन तीनों से है। योग में स्थिर व्यक्ति में आत्मबल का संचार करने के लिए भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मना बनधुरात्मैव रिपुरात्मनः।५।

भावार्थ : मनुष्य को अपने आत्मबल से अपना उद्धार करना चाहिए वास्तव में आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है: ५

व्याख्या: इस श्लोक का आशय यह है कि व्यक्ति का उत्थान और पतन उसके अपने हाथ में है। किसीको उठाने-गिराने के लिए अन्य किसी की जरूरंत नहीं है। अगले श्लोक में भगवान बताते हैं कि आत्मा अपना मित्र और अपना शत्रु कैसे है।

बन्धुरात्मात्मनस्तुस्य येनात्मेवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।६।

भावार्थ : जिस आत्मा ने अपने मन और इंद्रियों को वश में कर लिया हो, वह आत्मा अपना मित्र है, जो अपने मन और इंद्रियों के वश में है, वह अपना शत्रु आप है: ६

व्याख्या : यदि व्यक्ति को यह आभास को जाये कि वह अपने मन के वश में है, तो वह अच्छे साहित्य द्वारा, अच्छे व्यक्तियों के संग द्वारा अपने आपको ऊंचा उठा सकता है, यदि आत्मा पर विषयों की मैल का आवरण गहरा हो तो व्यक्ति को आभास ही नहीं होता कि वह अधोगति की ओर जा रहा है, ऐसे व्यक्ति को ऊंचा उठने में अनेक जन्मों का समय लगता है।

अगले श्लोक में आत्मजयी व्यक्ति के लक्षण बताते हैं।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।७।

भावार्थ : जिसने अपने मन को जीत लिया है, जो सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख मान-अपमान में एक-सा स्थिर रहता है, उसकी आत्मा परम आत्मा हो जाती है: ७।

व्याख्या : यहां सर्दी-गर्मी से तात्पर्य ऋतुओं के कारण तन को लगने वाली सर्दी-गर्मी नहीं है बल्कि अंतःकरण की सर्दी-गर्मी है। अंतःकरण की सर्दी को हम: विषाद (Depresseion) कहते हैं और अंतःकरण की गर्मी को हम ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध आदि भाव कहतें हैं। इससे पूर्व यही लक्षण स्थिरबुद्धि व्यक्ति के बताये गये हैं। कर्मयोग की ऊंची अवस्था तक पहुंचने के लक्षण भी यही कहे गये हैं और ज्ञानयोगी और संन्यासी के भी यही लक्षण है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष के लिए किसी भी मार्ग द्वारा जायें, उसका अंतिम फल एक-सा होता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकान्चनः।८।

भावार्थ : जिसका अंतःकरण आत्मिक ज्ञान और पदार्थों के विज्ञान से तृप्त है, जो अपने भीतर दृढ़ता से स्थित है, जिसने अपनी इंद्रियों को जीत लिया है, जिसके लिए

मिट्टी, पत्थर और सोना एकसमान है, वह योगी परमात्मा से जुड़ा हुआ है: ८

व्याख्या : पांचवें अध्याय में भगवान ने ज्ञानयोगी के लक्षण बताते हुए कहा था कि उसके लिए गौ, हाथी, विद्वान्, ब्राह्मण तथा चांडाल एकसमान हैं। यहां कह रहे हैं कि उसके लिए मिट्टी, पत्थर, सोना एकसमान है। भगवान बार-बार अनेक प्रकार के शब्दों द्वारा अर्जुन को बता रहे हैं कि किसी भी योग की पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ व्यक्ति समदर्शी हो जाता है। वह ऐसा नहीं करता कि स्वर्ण-आभूषण पहने व्यक्ति को अपने सिर पर बिठा ले और धूल से सने वस्त्रों वाले को निम्न स्थान दे। वह सभी को समान आदर देता है। व्यक्ति को उसके उपयोग-अनुपयोग के अनुसार आदर देना, योगी का नहीं, व्यापारी का काम है।

इस श्लोक में ज्ञान और विज्ञान शब्दों का प्रयोग हुआ है। ज्ञान से आशय है उन विषयों की जानकारी जो प्रत्यक्ष नहीं हैं। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि विषय प्रत्यक्ष नहीं हैं। श्रद्धा द्वारा या स्वानुभूति द्वारा जिनका अनुभव होता है, उसे ज्ञान या परा विद्या कहते हैं।

प्रकृति, पदार्थ और भौतिक तत्त्व, जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनकी जानकारी विज्ञान के अंतर्गत आती है, उसे अपरा विद्या कहते हैं।

ज्ञान-विज्ञान से तृप्त आत्मा से आशय है, वह व्यक्ति जिसकी परा विद्या और अपरा विद्या संबंधी जिज्ञासा शांत हो चुकी है। योग में स्थिर व्यक्ति के अन्य लक्षण अगले श्लोक में बताते हैं :–

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।९।

भावार्थ : जो हितैषी जनों, मित्रों, शत्रुओं, तटस्थ जनों, पक्षपातरहित मध्यस्थों, द्वेषपात्रों, सज्जनों और पापी जनों को समबुद्धि से देखता है, वह श्रेष्ठ है: ९

व्याख्या : सज्जनों से प्रीति और दुर्जनों से द्वेष, यह सामान्य परिपाटी है किंतु भगवान कहते हैं कि योगमार्ग की ऊँचाई तक पहुंचने वाले के लिए कोई शत्रु नहीं होता, कोई मित्र नहीं होता। ऐसा व्यक्ति ही परम शांति पा सकता है, यही शांति ध्यानयोग की साधना के लिए आवश्यक है।

ध्यानयोग की विधि अगले श्लोक में बताते हैं।

ध्यानयोग की विधि

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।१०।

भावार्थ : योगी को चाहिए कि वह एकांत स्थान में अकेला बैठकर आशा, वासना आदि त्यागकर, अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह त्यागकर अपने अंतःकरण को जीतकर निरंतर अपने भीतर के परमात्मा मे स्वयँ को स्थिर करे: १०

व्याख्या : सभी व्यक्ति एकांत नहीं निभा सकते, उनके लिए भक्तियोग कर्मयोग के रास्ते खुले हैं, किंतु ध्यानयोग के लिए एकांत आवश्यक है। ध्यान निरंतर करना चाहिए। अर्थात् प्रतिदिन एक निश्चित समय पर अवश्य करना चाहिए। किसी दिन किया, किसी दिन आलस्य कर लिया, उससे सिद्धि नहीं मिलती।

अगले श्लोक में आसन के विषय में बताते हैं।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।११।

भावार्थ : शुद्ध स्थान पर जो न बहुत ऊंचा हो, न बहुत नीचा हो, पहले कुशा, उस पर मृगछाला और सबसे ऊपर वस्त्र बिछाकर अपने लिए स्थिर आसन की स्थापना करे: ११

व्याख्या : आसन न इतना सख्त हो कि अधिक देर तक बैठने से पैर-टांगें दुखने लगें, न इतना मुलायाम हो कि बैठने से आलस्य घेर ले। शुद्ध स्थान से शुद्ध विचारों का संबंध होता है, अति नीचे के स्थान पर चींटी आदि कीड़ों का भय होता है, ऊंचे स्थान पर आसन होने से गिरने का भय होता है। कुशा, मृगछाला और कपड़ा बिछे होने से धरती की नमी, ठंडक, गर्मी व्यक्ति तक नहीं पहुंचती। यह सब विवरण भगवान ने इसलिए दिया है कि ध्यान में एकाग्र होने के लिए आसन का विशेष महत्त्व है। यदि आसन कष्टकर हो, दुर्गंधयुक्त हो तो ध्यान कष्ट और गंध की ओर बार-बार जाता है और एकाग्रता में बाधा आती है।

जिस समय भगवान ने यह आदेश दिया था, उस समय वन व्यापक थे और वन में विचरण करने वाले मृगादि पशु पर्याप्त संख्या में होते थे। आज की स्थिति में वन सीमित हो गये हैं। मृगादि पशुओं का शिकार वर्जित है, ऐसी दशा में मृगछाला का विकल्प अन्य वस्तुयें हो सकती हैं। भगवान के आदेश का आशय यही समझना चाहिए कि आसन स्थिर और सुखद हो, न अधिक कोमल हो, न अधिक सख्त हो, न अधिक गर्म हो, न अधिक ठंडा हो।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।१२।

भावार्थ : आसन पर बैठकर मन और इंद्रियों को अपने वश में करके एकाग्रचित्त होकर अपने अंतःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करे: १२

व्याख्या : आत्मा में स्थिर होने के लिए सबसे पहले अंतःकरण की शुद्धि आवश्यक है। पतंजलि ने मन की शुद्धि के लिए पांच यमों का पालन करना बताया है। वे पांच यम हैं: अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य अर्थात् इंद्रियों का संयम तथा अपरिग्रह अर्थात् संचय वृत्ति का त्याग। पतंजलि ने जिन्हें 'यम' कहा है, गौतम बुद्ध ने उन्हें 'पंचशील' कहा है।

अगले दो श्लोकों में भगवान ध्यानयोग के लिए बैठने की मुद्रा बताते हैं।

सम कायशिरोग्रीवं धारयत्रचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्व दिशश्चानवलोकयन्।१३।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।१४।

भावार्थ : धड़, सिर और गर्दन को सीधा और अचल रखकर स्थिर बैठे। अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर इधर-उधर न देखे। अंतःकरण को शांत करके ब्रह्मचर्य निभाते हुए, भयरहित होकर मुझमें चित्त लगाकर मुझे ही सर्वस्व मानकर मुझमें स्थिर होवे: १३, १४

व्याख्या : टांगों से ऊपर कंधे तक का भाग धड़ कहलाता है। धड़, सिर और गर्दन

को सीधा रखकर बैठने से शरीर का संतुलन बना रहता है और शरीर एक ओर को ढलकता नहीं है। भगवान ने नाक की नोक पर दृष्टि रखने के लिए कहा है, अपलक देखने के लिए नहीं कहा। इस विषय में विनोबाजी ने गीता-प्रवचन में पलकें अधमुंदी रखने की सलाह दी है, कारण यह है कि बंद आंखों से नींद लगने का खटका रहता है और खुली आंखों से ध्यान इधर-उधर भटकता है, हमारे अनुभव के अनुसार विनोबाजी की सलाह ठीक है।

पांचवें अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक में भगवान ने दोनों भौंहों के बीच दृष्टि रखकर प्राण और अपान वायु को सम करने का निर्देश दिया। इससे आज्ञाचक्र जाग्रत होता है। इस अध्याय में ध्यान की अन्य विधि बतायी हैं।

जो विधि जिसके लिए सुविधाजनक हो, उसके लिए वही विधि ठीक है।

मुझे सर्वस्व मानकर मुझमें ही स्थित होवे, यह बात भगवान साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होकर कह रहे हैं और ध्यान में भक्ति का पुट भी डाल रहे हैं। ज्ञानयोगी अपने भीतर के परम आत्मा मे स्थिर हो सकते हैं। अर्जुन जैसे रजोगुणी के लिए आकार और रूप सहित ब्रह्म का सहारा चाहिए।

यहां ब्रह्मचर्य का अर्थ अविवाहित होना नहीं है, बल्कि संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना है। भयरहित से आशय है कि मन से यह भय निकल जाये कि लोग क्या कहेंगे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति, निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।१५।

भावार्थ : इस विधि से योगी अपने मन का संयम करता हुआ आत्मा में स्थित होवे। ऐसा योगी निर्वाण रूपी वह परम शांति प्राप्त कर लेता है जो मुझे प्राप्त है: १५
संतुलन आवश्यक है

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।१६।

भावार्थ : हे अर्जुन, जो अधिक भोजन करता है, अथवा एकदम भूखा रहता है, जो अति निद्रा करता है अथवा जागता ही रहता है, ऐसे ध्यानयोगी की साधना पूरी नहीं होती: १६

व्याख्या : जिस प्रकार ओषधि के लिए नाप-तौल आवश्यक होता है वैसे ही, आहार, निद्रा भी नाप-तौल के अनुसार लेने से स्फूर्ति बनी रहती है। अधिक निद्रा तमो गुण बढ़ाती है और कम निद्रा से थकावट होती है। भगवान निद्रा के लिए घंटों की संख्या निश्चित नहीं कर रहे हैं, क्योंकि हर आयु के व्यक्ति को निद्रा की मात्रा अलग चाहिए। किशोर अवस्था में निद्रा अधिक मात्रा में चाहिए। अधेड़ावस्था में कम मात्रा चाहिए। आकाश, वायु तथा पित्त तत्त्व की अधिकता वाले व्यक्तियों की कम नींद के बावजूद स्फूर्ति बनी रहती है। जल तथा पृथ्वी तत्त्व प्रधान व्यक्तियों को अधिक निद्रा चाहिए। जिस मात्रा से जिसकी स्फूर्ति बनी रहे, वह उसके लिए उचित मात्रा है।

किसी विशेष व्रत-उपवास के लिए भगवान निषेध नहीं कर रहे हैं, वे ध्यानयोग साधना के संदर्भ में नियमित आहार की आवश्यकता बता रहे हैं।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।१७।

भावार्थ : जिसका आहार-विहार संतुलित है, जो कर्मों को उचित रीति से बरतता है, जिसका सोना-जागना नियमित है, ध्यानयोग उसके लिए दुखनाशक है: १७

व्याख्या : आहार, निद्रा की बात को इस श्लोक में पुन: कहा गया है। साथ ही भगवान ने इस श्लोक में कर्मों और विहार की मात्रा संतुलित करने की भी आज्ञा दी है। विहार का अर्थ है, आमोद-प्रमोद, सैर-सपाटा, मनोरंजन। मनोरंजन का निषेध नहीं है, किंतु जोर संतुलन, संयम और उचित मात्रा पर है। ध्यानयोग के लिए रोजगार, व्यापार, कर्म आदि के लिए निषेध नहीं है, यहां उचित रीति के कर्मों के बरतने का आदेश है। इंद्रियों को तरसाने की बजाय संयमपूर्वक उनका उपयोग करने के लिए भगवान आज्ञा दे रहे हैं।

साधना पूरी होने की अवस्था

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।१८।

भावार्थ : भली प्रकार से वश में किया हुआ मन जब एकमात्र अपनी आत्मा में स्थिर हो जाता है, तब संपूर्ण कामनाएं मिट जाती है, ऐसी स्थिति आने पर साधक योग की उच्चता प्राप्त कर लेता है: १८

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।१९।

भावार्थ : जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखे दीपक की लौ झिलमिलाती नहीं है, वैसे ही अपने भीतर के आत्मा में स्थित योगी के चित्त की निश्चल दशा हो जाती है: १९

व्याख्या : वायुरहित स्थान में तो दपिक की लौ प्रज्वलित ही नहीं रह सकती, यहां वायुरहित से आशय यह लेना चाहिए, जहां वायु के प्रबल झोंके न हों। इच्छायें, कामनायें मनुष्य के चित्त को डांवांडोल करने वाले प्रबल झोंके हैं। ये झोंके ध्यान की साधना में मन को टिकने नहीं देते। इन कामनाओं पर संयम रखने का उपाय अपने भीतर की आत्मा में स्थित होना है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।२०।

भावार्थ : ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा वश में किया हुआ चित्त जब अपनी आत्मा में रम जाता है, तो व्यक्ति संतुष्ट हो जाता है: २०

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।२१।

भावार्थ : यह संतोष इंद्रियों द्वारा भीगे जाने वाला नहीं है, यह वह सुख है जो बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है। एक बार इस सुख का अनुभव होने के उपरांत योगी किसी प्रकार विचलित नहीं होता: २१

यं लब्ध्वा चापरं लाभ मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिक्यिंतो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।२२।

भावार्थ : इस सुख को पाकर व्यक्ति अन्य किसी लाभ को इससे अधिक नहीं मानता। इस अवस्था पर पहुंचा हुआ मनुष्य भारी दुःख से भी नहीं डगमगाता: २२

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोग योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।२३।

भावार्थ : जिस साधना से दु:ख का वियोग हो जाये, उसे योग कहते हैं, बिना किसी उकताहट के इस योग की निश्चयपूर्वक साधना करनी चाहिए: २३

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।२४।
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थ मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।२५।

भावार्थ : संकल्प से उत्पन्न होने वाली कामनाओं को त्यागकर, मन के द्वारा सभी इंद्रियों को भली भांति नियंत्रित करके, धीरे-धीरे धरिजपूर्वक बुद्धि द्वारा अपने मन को अपनी आत्मा में स्थिर करके विषयों से निवृत्ति प्राप्त करे और किसी विषय का विचार मन में न लाये: २४, २५

व्याख्या : इन इलाकों में भगवान कह रहे हैं कि ध्यानयोग की इस साधना का फल पाने में जल्दी नहीं मचानी चाहिए। यह धीरे-धीरे सिद्ध होने वाली साधना है। इन श्लोकों में मन के ऊपर बुद्धि को माना गया है। हठी मन को वश में करने की विधि अगले श्लोक में बताते हैं।

मन को वश में करने की विधि

यतो यतो निश्चरति, मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।२६।

भावार्थ : स्थिर न रहने वाला चंचल मन जिस-जिस ओर भागे, उस-उस ओर से उसे लौटाकर अपने भीतर के आत्मा की ओर लाये: २६

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।२७।

भावार्थ : जिसका रजोगुण शांत हो गया है, उसका मन निश्चयपूर्वक पापरहित और शांत हो जाता है, उस योगी की आत्मा परमात्मा से एकाकार होकर परम सुख का अनुभव करती है: २७

व्याख्या : यहां रजोगुण से आशय काम, क्रोध, तृष्णा, लोभ आदि आवेश और उतेजनाएं हैं। मन को चँचल करने वाला मूल कारण रजोगुण की अधिकता है उसी रजोगुण की अधिकता के कारण पाप कर्म होते हैं। रजोगुण के शांत होते ही सतोगुण उभर आता है।

युञ्जनेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।२८।

भावार्थ : निरंतर योग की साधना करने वाला योगी पापों से छूटकर ब्रह्म साक्षात्कार के आनँद का अनुभव करता है: २८

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।२९।

भावार्थ : योग साधना में सिद्धि प्राप्त होने पर व्यक्ति इतना समदर्शी हो जाता है कि सभी प्राणियों में अपने को देखता है और अपने आपको सभी प्राणियों में अनुभव करता है: २९

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि विश्व के सभी जीवों के सुख-दु:ख योगी के अपने सुख-दु:ख हों जाते हैं, ऐसी सिद्धि की अगली सीढ़ी है, समस्त विश्व को ब्रह्ममय देखना और उसका फल भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

यो माँ पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।३०।

भावार्थ : जो हर जगह मुझे देखता है, और मुझमें हरेक को देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता हूं, न ही वह मुझसे दूर होता है: ३०

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ध्यानयोग से भक्तियोग में प्रवेश कर गये है, जैसे कुहरा, बादल आदि में मूल वस्तु जल को देखना। जैसे, रोटी, पूड़ी आदि में मूल तत्त्व गेहूं को देखना, वैसे ही सभी प्राणियों में मूल चेतन तत्व ईश्वर को देखना है। ध्यानयोग की उच्च पराकाष्ठा और भक्तियोग की उच्च पराकष्ठा में कोई अंतर नही रहता, ऐसा व्यक्ति अपने आपको ब्रह्म का ही एक भाग अनुभव करने लगता है, ब्रह्म का भाग हो जाने के बाद कैसा मिलना, कैसा बिछुड़ना अगले श्लोक में भी यही भाव जारी है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।३१।

भावार्थ : जो योगी सभी प्राणियों में मुझे समाया हुआ मानकर एक मात्र मेरी उपासना करता है, वह प्रकट रूप से सभी कार्यों में बरतता भीतर से मुझमें लीन रहता है: ३१

व्याख्या : यदि वह किसी रोगी की सेवा करता है तो यही समझता है कि वह प्रभु की सेवा कर रहा है। व्यापार करता है तो ग्राहक को भगवान का रूप समझता है। पति-पत्नी और बच्चों को ईश्वर का प्रसाद मानता है। माता-पिता को भगवान मानता है, ऐसा व्यक्ति पाप कर्म कर ही नहीं सकता, वह स्वयं ईश्वर का स्वरूप होता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।३२।

भावार्थ : हे, अर्जुन, जो सब प्राणियों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता है, वह परम श्रेष्ठ योगी है: ३२

व्याख्या : भगवान के इन वचनों को सुनकार अर्जुन को तसल्ली नहीं होती। उसका रजोगुणी स्वभाव इस साधना को कठिन मानता है और वह अपनी आशंका अगले श्लोक में प्रकट करता है।

अर्जुन की आशंका

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्त: साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।३३।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे मधुसूदन, सबको अपने तुल्य देखने का योग आपने कहा है। मन के चंचल होने के कारण मैं इस योग में अधिक समय तक टिकने की स्थिति नहीं देखता: ३३

चंचलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।३४।

भावार्थ : हे कृष्ण, यह मन बड़ा चंचल और मंथन की शक्ति रखता है, हठी और बलवान है, इसे वश में करना वायु को वश में करने के समान दुष्कर है: ३४

व्याख्या : अर्जुन की यह आशंका एक आम आदमी की आशंका है। आम आदमी के लिए ध्यानयोग की साधना आदर और श्रद्धा की पात्र तो हो सकती है, उसे यह साधना व्यवहार योग्य नहीं लगती। रजोगुणी व्यक्ति के लिए मन को वश में करना सरल नहीं है क्योंकि मन इंद्रियों के माध्यम से शरीर को इस प्रकार मथ डालने की शक्ति रखता है, जैसे मथानी दही को मथ डालती है। इस बलवान मन को वश में करना ऐसा है, जैसे हवा को गठरी में बांधना।

आशंका का निवारण

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। ३५।

भावार्थ : भगवान बोले, हे महाबाहो, निस्संदेह चंचल मन को वश में करना कठिन है, परंतु हे कुंतीपुत्र, इसे अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है: ३५

व्याख्या : लक्ष्य की ओर बार-बार यत्न करना अभ्यास कहलाता है और राग के विपरीत अवस्था वैराग्य है। आसक्ति और कामना से उदासीन हो जाना वैराग्य की अवस्था तक पहुंचना है। भगवान अर्जुन को महाबाहो कहकर जोश दिलाते हैं कि तुम्हारे जैसे महान् भुजाओं वाले वीर का मन की शक्ति के सामने हार जाना उचित नहीं लगता। वास्तव में तुम इसलिए अपने-आपको मन की शक्ति के सामने हताश पाते हो कि तुम्हें मन को वश में करने की विधि ज्ञात नहीं, विधि मैं बताता हूं। वह है अभ्यास और वैराग्य।

नन्हा शिशु लेटने से बैठने की क्रिया सीखने के लिए कितनी बार लुढ़कता है, बैठने से खड़ा होने में कितनी बार गिरता है, खड़ा होने के उपरांत चलना सीखने के लिए कितनी चोटें सहता है, यदि वह एक बार गिरकर, एक बार चोट खाकर हताश हो जाये तो कभी भी खड़ा नहीं हो सकेगा, कभी चल नहीं सकेगा। एक ही दिशा में किया जाने वाला उसका अभ्यास उसे अपने पाँव पर खड़ा करता है, उसे चलाता है।

रथ के घोड़े सीधे जंगल से लाकर रथ में नहीं जोते जाते हैं, इन्हें अभ्यासपूर्वक रथ के लिए सिधाया जाता है। ऐसे ही मन को सिधाना पड़ता है, जंगली घोड़ों की तरह।

मन को वश में करने की दूसरी विधि है वैराग्य। वैराग्य तभी होता है जब व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि कामनाओं और लालसाओं की इस दौड़ की कोई मंजिल नहीं। एक चाह पूरी होने पर उससे बड़ी चाह उपजती है, उसके बाद उससे बड़ी और लालसाएं समाप्त नहीं होतीं, मनुष्य समाप्त हो जाता है, ऐसे चिंतन से वैराग्य आता है।

जो व्यक्ति मन को बलवान मानकर पहले ही हार मान लें, उसके विषय में भगवान कहते हैं:–

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः। ३६।

भावार्थ : जिसका अपने मन पर नियत्रण नहीं है, उसके लिए यह योग कठिन है। यह मेरा मत है, किंतु मन को वश में करने का यत्न करने वाले मनुष्य को साधना द्वारा

इस योग की सिद्धि प्राप्त हो सकती है: ३६

व्याख्या : चाह हो तो राह निकल आती है, और विधि ज्ञात हो जाये तो सब कुछ संभव है। भगवान द्वारा इस शंका के निवारण के उपरांत एक अन्य शंका अर्जुन के मन में उठती है। वह पूछता है:–

योग मार्ग से विचलित होने पर

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति। ३७।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे श्रीकृष्ण, जिस मनुष्य की योग के प्रति श्रद्धा है, किंतु उसमें उस योग की सिद्धि प्राप्त करने योग्य संयम नहीं है। योगमार्ग के मध्य में भटक जाने वाला व्यक्ति किस गति को प्राप्त होता है: ३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि। ३८।

भावार्थ : हे महान् भुजाओं वाले श्रीकृष्ण, ऐसा मनुष्य सांसारिक भोग तथा ब्रह्म, इन दोनों ठिकानों से रहित होकर छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता: ३८

व्याख्या : गति दशा को भी कहते हैं, हरकते को भी कहते हैं। जहां स्थिति है उससे इधर-उधर जाना गति है। धार्मिक क्षेत्र में एक जन्म से दूसरे जन्म में जाना या इस लोक से परलोक में जाना भी गति है। गति दो प्रकार की होती है। पहली सद्गति, दूसरी दुर्गति। जिस अवस्था में अब हैं, उससे ऊंची अवस्था में जाना सद्गति है। उस अवस्था से निम्न अवस्था में जाना दुर्गति है। निम्न योनि से उच्च योनि में जाना, सद्गति है। मूढ़ परिवार से विद्वान परिवार में जाना, निर्धन से धनी परिवार में जाना, मानव से दिव्य योनि में जाना, निम्न कुल सें उच्च कुल में जाना, ये सब सद्गति के रूप हैं। इससे विपरीत अवस्था दुर्गति है।

अर्जुन की आशंका यह है कि कोई व्यक्ति सत्संग के प्रभाव मैं आकर योग साधना आरंभ तो करता है, किंतु सिद्धि प्राप्त होने से पूर्व वह योग का मार्ग छोड़ देता है, या साधना के मध्य में कोई रोया या मृत्यु आने के कारण उसकी साधना अधूरी रह जाती है, तो उसकी क्या गति होती है?

भरा हुआ बादल बरसकर अपने को सार्थक कर लेता है, किंतु छितरा बादल हवा के थपेड़े खाकर बिना बरसे बिखर जाता है। क्या अधूरे योगी की दशा छितरे बादल की होती है? अर्जुन भगवान से पूछ रहा है कि ब्रह्म को पाने के लिए मनुष्य संसार के भोगों को छोड़ दे, किंतु साधना पूरी न होने के कारण ब्रह्म न मिले, तो ऐसा व्यक्ति न घर का रहेगा न घाट का। हे भगवान, मुझे बताओ कि क्या ऐसे मार्ग पर बढ़ना उचित है, जिसकी मंजिल अनिश्चित हो? फिर भगवान के प्रति पूर्ण निष्ठा प्रकट करते हुए अर्जुन भगवान से निवेदन करता है:–

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते। ३९।

भावार्थ : हे श्रीकृष्ण, आप मेरे इस संशय को पूर्ण रूप से दूर करने में समर्थ हैं।

आपके अतिरिक्त अन्य कोई इस संशय को दूर करने वाला नहीं हे: ३९

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।४०।

भावार्थ : श्री भगवान बोले, हे पार्थ, शुभ कर्म करने वाले किसी व्यक्ति का नाश नहीं होता, न इस लोक में न परलोक में। हे तात, कल्याण मार्ग की ओर बढ़ा हुआ कोई पग कभी दुर्गति की ओर नहीं ले जाता: ४०

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।४१।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।४२।

भावार्थ : योग मार्ग से विचलित व्यक्ति स्वर्गादि, पुण्यलोकों में बहुत वर्षों तक वास करने के उपरांत शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् जनों के घर में जन्म लेता है, अथवा योगनिष्ठ बुद्धिमानों के कुल में जन्म लेता हैं। ऐसा जन्म अत्यंत दुर्लभ है: ४१, ४२

व्याख्या : इन तीन श्लोकों में भगवान ने कहा कि कोई भी शुभ कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। साधना आरंभ करने वाले की मनोवृत्ति के अनुसार उसे अगला जन्म प्राप्त होता है। किसी कामना की सिद्धि के लिए साधना करने वाले जन स्वर्गादिक लोकों में विचरण करने के उपरांत शुद्ध विचार वाले प्रतिष्ठित कुलों में उत्पन्न होते हैं और निष्काम साधक अपनी मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार बुद्धिमान योगी कुलों में जन्म लेते है। वहां का वातावरण उनकी पिछले जन्म की अपूर्ण सिद्धि को पूरा करने में सहायक होता है। श्री भगवान के मत के अनुसार बुद्धिमान योगी कुल में जन्म लेना सामान्य बात नहीं है। भगवान आगे कहते हैं:–

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।४३।

भावार्थ : हे कुरुवंशी अर्जुन, वहां जन्म लेकर वह अपने पूर्व देह के मानसिक संस्कारों के बल पर बुद्धि संयोग से फिर से परम सिद्धि पाने के लिए यत्न करता है: ४३

व्याख्या : प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार मृत्यु दो जन्मों के मध्य नींद के समान है। हम आज दिन भर में जो कार्य अधूरा छोड़ देते हैं, अगले दिन उसे पूरा करने के लिए फिर से जुट जाते हैं। वैसे ही इस जन्म के अधूरे कार्य हम अगले जन्म में पूरे करते हैं।

हम देखते हैं कुछ बच्चे शुरू से मेंधावी होते हैं, कुछ आरंभ से अंत तक मूढ़ बने रहते हैं। कुछ व्यक्ति बचपन से ही लोभी होते हैं, कुछ बचपन से ही सतोगुणी होते हैं। इसका कारण पूर्व जन्म के संस्कार होते हैं।

कंप्यूटर युग की भाषा के अनुसार संस्कार को समझने का यत्न करें तो संस्कार जन्मभर के गहरे अनुभवों की एक फ्लापी डिस्कैट (Floppy Diskette) है जो टैस्ट ट्यूब में सिद्ध नहीं की जा सकती।

आधुनिक शरीर-विज्ञान के उदाहरण से संस्कार को समझने का हम यत्न करते हैं। शरीर विज्ञान (Anatomy) शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology) ने यह खोज कर ली है

कि कपाल में स्थित स्नायु संस्थान में जहां-तहां स्मृति-केंद्र फैले हुए है, जीवनभर की महत्त्वपूर्ण घटनाएं उन समृति-केंद्रों में सुरक्षित रहती हैं जो मन की इच्छा के अनुसार मन की आंखों से दिखाई देती हैं, मन के कानों को सुनाई देती हैं। उन समृति-केंद्रों में से अत्यंत महत्त्वपूर्ण इच्छाएं तथा स्मृतियां अगले जन्म के लिए संस्कार बनती हैं।

संस्कार एक जन्म से दूसरे जन्म तक आत्मा के साथ यात्रा करते हैं। आत्मा की इस यात्रा में मन, बुद्धि और अहंकार साथ देते हैं। इन संस्कारों से बुद्धि का संयोग होने से पूर्व जन्म के अनुभव जाग्रत हो जाते है और व्यक्ति पूर्व संस्कारों के कारण अपनी साधना को वहीं से फिर आरंभ करता है, जहां से उसने पिछले जन्म में अधूरा छोड़ा था, और...

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।४४।

भावार्थ : पहले के अभ्यास के बल पर वह जिज्ञासु बरबस अपने ध्येय की ओर आकृष्ट होता है और शब्द ब्रह्म से परे चला जाता है: ४४

व्याख्या : शब्द, ब्रह्म वेद को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वेद जिस परम ब्रह्म की ओर संकेत करते हैं, ज्ञान पाने का इच्छुक जिज्ञासु उस परम ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। परम ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष की अवस्था है। यह अवस्था योग की पूर्णता का फल है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।४५।

भावार्थ : अनेक जन्मों के अभ्यास से योगी के मल-पाप धुल जाते हैं। अनेक जन्म के दृढ़ प्रयत्नों से वह अपने-आपको पूर्ण बनाता हुआ परमगति पाता है: ४५

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।४६।

भावार्थ : योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से श्रेष्ठ है, तथा सकामकर्मियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन, तू योगी बन: ४६

व्याख्या : यहां जिस योगी की भगवान प्रशंसा कर रहे हैं, वह निष्काम कर्म योगी है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।४७।

भावार्थ : संपूर्ण योगियों में जो अंतरतम से मुझमें लीन है, मुझमें श्रद्धा टिकाता है, मेरा भजन करता है, उस योगी को मैं सर्वश्रेष्ठ मानता हूं: ४७

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान फिर स्वयं को परम ब्रह्म प्रकट करते और भक्त की प्रशंसा करते हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥६॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र-विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'ध्यानयोग' नामक छठा अध्याय संपूर्ण हुआ।

सातवां अध्याय

ज्ञान-विज्ञान

ज्ञान और विज्ञान की चर्चा पिछले अध्याय में आरंभ हो चुकी है। इस अध्याय में इन दोनों शब्दों का व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है और निराकार, साकार, निर्गुण, सगुण, जड़ तथा चेतन आदि विषयों के अन्य रहस्य खोले गये हैं।

भक्तियोग के विषय में पिछले अध्याय में जहां-तहां फुटकर विचार आये हैं, इस अध्याय में उस विषय को अधिक विस्तार दिया गया है। पिछले अध्याय के अंतिम श्लोक के विषय को भगवान इस अध्याय के आरंभ में जारी रखते हुए कहते हैं:–

ब्रह्म को जानना आवश्यक

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमना: पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रय:।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।१।

भावार्थ : भगवान बोले, हे पार्थ, मुझमें मन लगाकर मेरा ही आश्रय लेकर योग में लगा हुआ तू पूर्ण रूप से मुझे जिस प्रकार जानेगा, वह सुन:१

व्याख्या : मेरा आश्रय लेने का तात्पर्य है, संसार के अन्य व्यक्तियों और पदार्थों से आशा न रखना। यहां योग का अर्थ भक्तियोग है, क्योंकि पिछले अध्याय के अंत में भगवान भक्तियोग का विषय आरंभ कर चुके हैं।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वख्याम्यशेषत:।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।२।

भावार्थ : ज्ञान और विज्ञान, इन दोनों विषयों पर मैं तुझे पूर्ण रूप से कहूंगा, जिसे जानकर तुझे और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहेगी: २

व्याख्या : इन दोनों श्लोकों में भगवान अर्जुन से यह वादा कर रहे हैं कि मैं तुझे ज्ञान और विज्ञान की पूरी जानकारी दूंगा, अत: एकाग्र होकर सुन।

ज्ञान और विज्ञान के अनेक अर्थ हैं। लोकमान्य तिलक कहते हैं–सृष्टि के नाशवान पदार्थों में एक अविनाशी समा रहा है, यह जानना ज्ञान हैं। नाशवान पदार्थों का रहस्य जानना विज्ञान है।

अन्य विद्वानों के अनुसार, आत्मा परमात्मा स्थूल नेत्रों सें दिखाई नहीं देते। अनुभूति की गहराई से अनुभव में आते हैं। अत: निराकर आत्मा परमात्मा का विषय ज्ञान है। प्रकृति के गुणों से युक्त शरीर तथा जड़ पदार्थ विज्ञान का विषय है अत: भगवान कह रहे हैं कि केवल चेतन तत्व का ज्ञान ही पर्याप्त नहीँ, बल्कि जड़-प्रकृति की जानकारी भी आवश्यक है। इन दोनों को जानना ब्रह्म को समग्र रूप से जानना है। इन दोनों के विषय में जानने के उपरांत और कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता। भगवान आगे कहते हैं:–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:।३।

भावार्थ : सहस्त्रों मनुष्यों में से कोई एक मेरी सिद्धि के लिए यत्न करता है, इन यत्न करने वाले साधकों में से कोई एक मुझे समग्र रूप से जानता है: ३

व्याख्या : एक ही कक्षा में अनेक छात्र पढ़ते हैं, उनमें से किसीको अधिक अंक मिलते हैं, किसीको कम अंक मिलते हैं। आध्यात्मिक विषयों में सफलता का प्रतिशत और भी घट जाता है, क्योंकि यहां प्रकट को पाने का यत्न नहीं, बल्कि अप्रकट को जानने का यत्न है। अगले श्लोक में भगवान अपने दृश्य अंश प्रकृति के विषय में बताते हैं।

अद्वैत का सिद्धांत

भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।४।

भावार्थ : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, इन आठों पर आधारित मेरी प्रकृति है: ४

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान बता रहे हैं कि प्रकृति मुझसे अलग तत्त्व नहीं है, बल्कि वह मेरा जड़ भाग है। प्रकृति का वर्णन करते समय भगवान स्थुल पृथ्वी से बात आरभ करके प्रकृति के सूक्ष्मतम अंग अहंकार पर बात समाप्त कर रहे हैं यही पृथ्वी का अर्थ भूमि या धरती नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है पदार्थ का ठोस अंश।

जल पृथ्वी से सूक्ष्म है। जल से तात्पर्य पीने या वर्षा का पानी नहीं है, ये सब जल के विकसित रूप हैं। प्रकृति की शब्दावली में जल पंचतत्त्वों में से वह तत्त्व है जो अपनी घुलनशीलता के कारण हर पदार्थ को मुलायम करने की सामर्थ्य रखता है।

अग्नि तत्त्व जल तत्त्व से सूक्ष्म है। ऊर्जा, प्रकाश और ताप के जितने रूप दिखाई दे सकते हैं और अनुभव में आते हैं, उन सबमें प्रकृति का अग्नि तत्त्व मुख्य होता है। यहां ध्यान रहे कि उबाल बिंदु से लेकर हिमांक बिंदु तक, उबाल बिंदु से ऊंचे तथा हिमांक बिंदु के नीचे तक की सभी अवस्थायें तापमान के अंतर्गत आती हैं। हिमांक बिंदु की अवस्थाओं में अग्नि तत्त्व अति अल्प होता है और उबाल बिंदु की अवस्था में अग्नि तत्त्व अति प्रबल होता है।

अग्नि से वायु सूक्ष्म है। यह दिखाई नहीं देती, किंतु स्पर्श द्वारा अनुभव की जा सकती है। सामान्य भाषा में जिसे हम वायु कहते हैं, उसमें अन्य तत्त्व मिले रहते हैं। प्रकृति के पंचतत्त्वों के अनुसार वायु का मुख्य गुण गति है। वायु तत्त्व का कार्य है, अन्य तत्त्वों को गति द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाना, इसलिए वायु को संयोजक तत्त्व कहा जाता है।

आकाश पांच भौतिक तत्त्वों में से सबसे सूक्ष्म है। भारतीय शास्त्रों में आकाश का अर्थ नीला आसमान नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है जिसमें गति होने से घर्षण उत्पन्न नहीं होता, केवल कान के पर्दे उस सूक्ष्म घर्षण को अनुभव कर सकते हैं और इसी व्यापक तत्त्व के कारण सृष्टि के सभी पदार्थ अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से जुडे हुए हैं। वैज्ञानिकों द्वारा कथित ईथर (Ether) का कार्य बहुत कुछ आकाश से मिलता-जुलता है। सामान्य बोलचाल में हम कह सकते हैं कि जो-जो स्थान खाली दिखाई देता है, वहां-वहां आकाश तत्त्व भरा है। वायु तत्त्व में भी आकाश की मिलावट है।

इन पांचभौतिक तत्त्वों से भी अधिक सूक्ष्म प्रकृति के तीन तत्त्व हैं, मन, बुद्धि और अहंकार। आत्मा के संयोग से इन तीनों का समुच्चय चित्त या अंतकरण कहलाता है।

जिस क्रम से भगवान प्रकृति के भागों का वर्णन कर रहे हैं, उससे प्रतीत होता कि मन, आकाश से अधिक सूक्ष्म है, बुद्धि मन से अधिक सूक्ष्म है और अहंकार बुद्धि से

अधिक सूक्ष्म है।

सामान्यत: लोग मन और हृदय को एक मानते है, बुद्धि और मस्तिष्क को एक मानते हैं, अंहकार और अभिमान को एक मानते हैं, किंतु भगवान आठ भागों पर आधारित अपनी जिस प्रकृति की बात कर रहे हैं, उसके अनुसार हृदय और मस्तिष्क पंचभूतों पर आधारित प्रकृति के भाग हैं। शरीर के ये अंग मन और बुद्धि के द्वारा संचालित होते हैं, किंतु मन और बुद्धि इनसे अलग हैं।

सामान्य भाषा में अहंकार का अर्थ अभिमान, घमंड समझा जाता है, किंतु शास्त्रों के अनुसार अहंकार का अर्थ है, अन्यों से अलगाव का भाव। बादल से गिरी हर बूंद का अलग अस्तित्व है। नाली में गिरे, नदी में गिरे, खेत में गिरे या सीप के खुले-मुंह में गिरे। हर बूंद अपने गंतव्य स्थान के अनुसार रूप बदलती है किंतु कोई बूंद अपने उच्च गंतव्य के कारण इतराती नहीं, न ही निम्न गंतव्य के कारण हीनता से ग्रसित होती है, किन्तु मानव में यह पृथकता का भाव ऊंचे और निम्न पद या वंश के कारण कई जटिलतायें खड़ी करता है, इसलिए भगवान गीता में अलग-अलग स्थानों में अहंकार के विपरीत समत्व भाव के लिए आदेश देते हैं।

अंत:करण के ये तीन अग, मन, बुद्धि और अहंकार, ये आत्मा के देह छोड़ने के उपरांत बेकार हैं। उदाहरणत: विश्व को अपने चरणों पर झुकाने का ध्येय रखने वाला सिकंदर का अहंकार आत्मा के बिना निष्फल है।

आठ भागों पर आधारित प्रकृति के नाम बताने के उपरांत भगवान अगले श्लोक में कहते हैं:–

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।५।

भावार्थ : हे महान् भुजाओं वाले अर्जुन, यह आठ भागों में बंटी मेरी अपरा प्रकृति है। इससे भिन्न मेरी जीव रूपी परा प्रकृति है, जिसने जगत् को धारण किया हुआ है: ५

व्याख्या : परा और अपरा के अनेक अर्थ हैं। यहां परा का अर्थ श्रेष्ठ है, अपरा का अर्थ 'निम्न कोटि' का है। तत्पर्य है चेतन तत्त्व मेरा श्रेष्ट भाग है। इसे भगवान ने अपनी परा प्रकृति कहा है। अपरा प्रकृति जड़ है, वह चेतन पर निर्भर है इसलिए वह निम्न कोटि की है।

सांख्य सिद्धांत सृष्टि को दो भागों में बाँटता है। जड़ तत्त्व को वह प्रकृति कहता है और चेतन तत्व को वह पुरुष कहता है, इसीको द्वैतवाद कहते हैं। किंतु भगवान इस श्लोक में सांख्य सिद्धांत से अलग बात कह रहे हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष दो अलग नहीं हैं, बल्कि जड़ प्रकृति चेतन पुरुष का ही एक भाग है। इसी सिद्धांत पर वेदांत का अद्वैत सिद्धांत टिका है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारतीय शास्त्रों में पुरुष का अर्थ हर स्थान पर 'नर' नहीं है, बल्कि शरीर रूप पुरी में वास करने वाला चेतन तत्त्व है। प्राचीन दर्शन से के अनुसार भारतीय शास्त्रों में जीवधारी नर और नारी, दोनों के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग होता रहा है।

इस श्लोक का तात्पर्य है कि यह संपूर्ण जगत् ब्रह्म का शरीर है और इस जगत् को गतिशील करने वाला तत्त्व परमात्मा है। सृष्टि में व्याप्त जिसे परमात्मा कहते हैं, शरीर की सीमा में उस चेतन तत्त्व को आत्मा कहते हैं।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: अलयस्तथा।६।

भावार्थ : परा और अपरा, इन दोनों प्रकृतियों से सृष्टि के सभी जीव बने है और मैं ही संपूर्ण सृष्टि का उद्‌गम हूं और मुझमें ही सारी सृष्टि लीन होती है: ६

मत्त: परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।७।

भावार्थ : हे धनंजय अर्जुन, सृष्टि में मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह सारा जगत् मुझमें ऐसे पिरोया हुआ है, जैसे धागे में मणियां पिरोई हुई होती हैं: ७

व्याख्या : इन दोनों श्लोकों में भगवान ने अलग-अलग शब्दों में यह बताया है कि सभी जड़ पदार्थ और चेतन तत्त्व ये ब्रह्म के शरीर के भाग हैं। जड़ से उनका आकार बनता है, चेतन तत्त्व के कारण उनमें जीवन आता है। जिस प्रकार माला के मनके, धागे के कारण क्रम में बंधे रहते हैं, वैसे ही मेरे चेतन तत्त्व के कारण सारे जड़ जगत् का क्रम बंधा हुआ है। जिस प्रकार बिना धागे के मणियां बिखर जाती हैं, उसी प्रकार मुझे चेतन तत्त्व के बिना सृष्टि बिखर जाती है।

परमात्मा की सर्वव्यापकता के कुछ उदाहरण

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो:।
प्रणव: सर्ववेदेषु शब्द: खे पौरुषं नृषु।८।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र अर्जुन, जल में मैं रस हूं, सूर्य तथा चंद्रमा में मैं प्रकाश हूं। वेदों का सार ॐकार हूं। आकाश में शब्द हूं तथा नरों में पराक्रम हूं: ८

व्याख्या : जल का मुख्यता रस के कारण है। चंद्र और सूर्य की विशेषता उनका प्रकाश है। वेदो का सार ॐकार है तथा आकाश की उपस्थिति शब्द सें ज्ञात होती हैं। नर की श्रेष्ठता उसके पराक्रम के कारण है, ये सभी विशेषतायें उनमें परमात्मा तत्त्व के कारण हैं।

इस श्लोक में वेदों का सार ॐकार कहा है। ॐकार का उच्चारण करने का रूप 'अ-उ-म्' है। सामान्य बोलबाल में, इसे 'ओम्' कहते हैं।

'ओम्' शब्द को अति महत्त्व मिलने का कारण यह है कि यह सभी ध्वनियों का सार है। उस सार तत्त्व को समझने का यत्न करते हैं।

नवजात शिशु बिना किसी प्रयत्न के जिस वर्ण का उच्चारण कर सकता हैं, वह 'अ' है। 'अ' अपने उद्‌गम स्थान नाभि से होकर कंठ से निकलता है। उसके बाद कंठ और होंठो के संयोग से उच्चारण करने वाले वर्ण 'उ' की बारी आती है। 'उ' में जब नाक भी मूल ध्वनि के निकलने में भाग लेती है तो 'उ' 'म' बन जाता है। 'म' के प्रयोग से होंठों के किवाड़ बंद हो जाते हैं और स्पंदन भीतर प्रतिध्वनित होता है।

दांतों के निकलने से पहले शिशु जिन शब्दों का उच्चारण करता है वे ओंठ से संबंधित 'म' के व्यंजन होते हैं यथा मां, मामा, पापा। बाद में शिशु दाँत तालु आदि के संयोग से उपजने वाली ध्वनियां निकलता है। 'अ-उ-म्' के मेल से बनी 'ओम्' ध्वनि हमारी मूल ध्वनि है। यह नैसर्गिक या स्वाभाविक है। शेष सभी ध्वनियां सीखनी पड़ती हैं, अत: वे अर्जित हैं।

'ओम्' के विधिपूर्वक उच्चारण से हम अपने अंतर के मूल तक पहुंच सकते हैं। शास्त्रों

में 'ॐ' को 'प्रणव' कहा है। इसी विशेषता के कारण वेद उपनिषद् में 'प्रणव' अथवा 'ॐकार' को महत्व दिया गया है।

अगले तीन श्लोकों में भगवान कुछ अन्य तत्त्वों के श्रेष्ठ होने का कारण उनमें अपनी उपस्थिति बता रहे हैं।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।९।

भावार्थ : हे पार्थ, पृथ्वी में उत्तम गन्ध, अग्नि में तेज, सभी प्राणधारियों में जीवनशक्ति और तपस्वियों का तप मैं हूं: ९

बीजं मां सर्वभूताना विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।१०।

भावार्थ : हे पार्थ, संपूर्ण जीवधारियों का सर्वप्रथम बिज तू मुझे जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि हूं और तेजस्वियों का तेज हूं: १०

बल बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।११।

भावार्थ : हे भरतश्रेष्ठ, मैं बलवानों का कामना और राग से रहित बल हूं और प्राणियों में धर्म के अनुकूल कम हूं: ११

व्याख्या : जहां राग होता है, उसके पीछे द्वेष छुपा होता है, जहां कामना होती है, वहां निराशा की संभावना भी होती है। राग-द्वेष और कामना के उद्देश्य से प्रयोग किया जाने वाला बल अनर्थ का कारण बन सकता है, किन्तु कामना और राग से रहित बल शुभ होता है।

कामभाव जब तक धर्म की सीमा में रहता है, वह दिव्य शक्ति होता है, उसीसे सृष्टि चलती है। धर्म की सीमा से बाहर का कम भि अनर्थकारी होता है। विषय का परिवर्तन भगवान अगले श्लोक में करते हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राज्सास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।१२।

भावार्थ : सतोगुण से उत्पन्न होने वाले, रजोगुण से उपजे तथा तमोगुण से पैदा हुए, प्रतीत होने वाले सभी जीवों, पदार्थों को तू मुझसे उत्पन्न हुआ जान। वे मेरे सहारे टिके हैं, मैं उनके सहारे नहीं टिका हूं: १२

व्याख्या : जीव में प्रकृति के तीनों गुण आत्मा के कारण संगठित होते हैं। सृष्टि में ये तत्त्व परमात्मा के कारण टिके हुए हैं।

यहां सतोगुण से तात्पर्य समन्वयकारी तत्त्व है। रजोगुण से आशय आवेश और उत्तेजना प्रधान तत्त्व है तथा तमोगुण विश्रांतिकारी तत्त्व है।

माया का आवरण

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।१३।

भावार्थ : सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों गुणों से निर्मित पदार्थों से यह सारा संसार मोहित हो रहा है और यह संसार तीनों गुणों की ओट के कारण मुझ अविनाशी को नहीं पहचानता: १३

व्याख्या : जिस प्रकार पुतलियों को नचाने वाला सूत्रधार पर्दे के पीछे रहता है, वैसे ही सभी जीवधारियों की सारी सक्रियता मुझ परम आत्मा के कारण है, किंतु सामान्य जन की नजर पुतलियों के खेल तक सीमित रहती है। जिस सूत्रधार के कारण वे पुतलियां नर्तन करती हैं, सामान्य जन उसे नहीं देख पाते। क्यों नहीं देख पाते, इसका कारण भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।१४।

भावार्थ : यह अति अद्भुत तीन गुणों पर आधारित मेरी माया अत्यंत जटिल है। जो जन एकमात्र मेरी शरण में आते हैं वे उस माया को पार कर जाते हैं: १४.

व्याख्या : प्रकृति का ही दूसरा नाम माया है। माया से तात्पर्य है जिसका अपना कोई आधार नहीं। शरण में आने का अर्थ है, अपने अहंकार का विसर्जन करना। ऐसा शरणागत व्यक्ति प्रकृति के आवरण को भेदकर मुझे पाता है। जो जन परमात्मा को नहीं पा सकते हैं, उनके विषय में भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

न मां दुष्कृतिनो: मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।१५।

भावार्थ : माया द्वारा जिनका ज्ञान नष्ट हो चुका है, ऐसे असुर स्वभाव के दूषित कर्म करने वाले, मूढ तथा अधम जन मेरी शरण में नहीं आते: १५

व्याख्या : जो अहंकार का विसर्जन नहीं कर सकते, वे यथार्थ को नहीं समझ सकते। जो मन में समझे बैठा है कि मैं सब कुछ जानता हूं, मुझे किसी से कुछ पूछने को जरूरत नहीं है, वह देह रूपी माया के पीछे अदृश्य परमात्मा को कैसे पहचान सकता है।

अगले श्लोकों में भगवान परमात्मा की शरण में आने वालों का वर्गीकरण करते हैं।

भक्तों के प्रकार तथा उनकी भक्ति का फल

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन।
आतो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।१६।

भावार्थ : हे भरतश्रेष्ठ, उत्तम कर्म करने वाले ये चार प्रकार के मनुष्य मेरा भजन करते हैं, दु:खी, जिज्ञासु, सांसारिक पदार्थों की इच्छा करने वाला तथा ज्ञानी: १६

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमह स च मम प्रिय:।१७।

भावार्थ : इनमें ज्ञानी एक मात्रा मेरी भक्ति में निरंतर लीन रहने के कारण श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानी को प्रिय हूं, ज्ञानी मुझे प्रिय है: १७

उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी: त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।१८।

भावार्थ : ये चारों प्रकार के भक्त अच्छे हैं, किंतु मेरे मत के अनुसार ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है, क्योंकि वह मुझमें चित्तवृत्ति टिकाकर, मुझे परम गति समझकर मुझमें सदा लीन है: १८

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।१९।

भावार्थ : बहुत जन्मों के अंत में ज्ञानी मनुष्य यह जान लेता है कि विश्व में मुझ

वासुदेव के अतिरिक्त कुछ नहीं है, ऐसी महान् आत्मा दुर्लभ है: १९

व्याख्या : भगवान चारों प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, उसका कारण यह है कि अन्य जन किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए मेरा भजन करते हैं, ज्ञानी सभी प्राणियों में बसने वाला मेरा वासुदेव रूप जानकर मुझे निष्प्रयोजन भजता है।

इन चार प्रकार के भक्तों से तनिक निम्न स्तर के भक्तों के विषय में भगवान अगले श्लोकों में बताते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तै नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।२०।

भावार्थ : भोगों की कामना के कारण जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, वे अपने स्वभाव से विवश होकर विधि-विधान और अनुष्ठान को प्रमुख मानते हुए अन्य देवताओं का पूजन करते हैं: २०

यो यो यां यां तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्थ तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।२१।

भावार्थ : अपनी कामना को पूरा करने के लिए जो भक्त जिस देवता के जिस स्वरूप की श्रद्धा से पूजा करना चाहता है, मैं उस देवता के प्रति उस भक्त की श्रद्धा कौ दृढ़ करता हूं: २१

व्याख्या : प्रत्येक भक्त की बुद्धि और उसके मानसिक स्तर के अनुसार भगवान उसे स्वीकार करते हैं। शिशु को 'अ' से अनार 'क' से कबूतर कहकर वर्णमाला सिखाई जाती है। प्रौढ़ों को सीखने के लिए चित्रों की आवश्यकता नहीं होती। आयु में जो बडे हैं, किंतु साधना के क्षेत्र में जो शिशु हैं, वह कामनाओं और कर्मकांडों के सहारे किसी विशेष आकार के माध्यम से अपनी साधना का आरंभ करते हैं। भगवान उस भक्त के इष्टदेव की ओर से फल देकर उस इष्ट के प्रति उसकी श्रद्धा को स्थिर करते हैं।

इस श्लोक द्वारा भगवान कह रहे हैं कि बेशक सारी सृष्टि मेरा शरीर है किंतु यह बात उस ज्ञानी की समझ में आ सकती है, जो अनेक जन्मों से यही साधना कर रहा है। नवीन साधक को साधना के लिए कोई आकार चाहिए, कोई पुरस्कार चाहिए। बालक को अच्छे अंक पाने के लिए माता-पिता कोई लालच देते हैं, वैसे ही भगवान नवीन साधक की कामना पूरी करते हैं, ताकि अपनें इष्ट के प्रति उसकी श्रद्धा विचलित न हो, क्योंकि विचलित व्यक्ति बिना लंगर के जहाज की भांति डांवांडोल रहता है।

इस श्लोक का तात्पर्य है कि साकार उपासना, निराकार उपासना से पूर्व की अवस्था है। भगवान इस विषय कों अगले श्लोक में भी जारी रखते हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च लतः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।२२।

भावार्थ : इसी श्रद्धा से युक्त होकर वह भक्त जिस इष्ट देवता की आराधना करता है, उसे अपने इष्ट द्वारा जो लाभ प्राप्त होता है, वह मेरी ओर से निश्चित किया हुआ होता है: २२

अन्त्वक्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।२३।

भावार्थ : किन्तु उन अल्पबुद्धि वालों को मिलने वाला फल नाशवान होता है,

देवताओं को पूजने वाले देवताओं के पास पहुंचते हैं, मेरे भक्त मुझे पाते हैं: २३

मूढ़ जनों के विषय में

अव्यक्तं व्यक्तिमाप्न्नं मन्यन्ते मामबुद्ध्य:।
परं भावमजान्तो ममाव्ययम्नुत्तमम्।२४।

भावार्थ : बुद्धिहीन जन मेरे अप्रकट, सर्वोपरि अविनाशी रूप को नहीं समझते। वे मुझे मनुष्य मानकर मेरे साथ वैसा की व्यवहार करते हैं: २४

नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावर्त :।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।२५।

भावार्थ : योगमाया से ढका होने के कारण मैं सबके लिए अप्रकट हूं। इस माया के कारण मूढ़ जन नहीं जानते कि न तो मेरा जन्म होता है, न ही मेरा नाश है: २५

व्याख्या : हम कहते हैं कि बादलों ने सूर्य को ढक लिया किन्तु सूर्य तो हमारी प्रथ्वी से भी कई गुना बड़ा है। एक छोटा सा बादल का टुकड़ा उस व्यापक सूर्य को कैसे ढक सकता है? इसका उत्तर है कि छोटा सा बादल का टुकड़ा हमारी द्रष्टि को ढक लेता है। यहां बादल का टुकडा योगमाया जैसा है, जो छोटा होने पर भी सूर्य को हमारी आंखों से ओझल करता है।

सबके लिए अप्रकट हूं, इसका आशय है मूढ़ जन मेरे प्रकट रूप के पीछे मेरा ब्रह्मारूप नहीं जानते। वे नहीं जानते कि न मेरा आदि है न ही मेरा अंत है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणी च भूतानि मां तू वेद न क्रष्ण।२६।

भावार्थ : हे अर्जुन, मैं उन प्राणियों को जानता हूं, जो अतीत में हो चुके हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होने वाले हैं, परन्तु मेरे वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जानता: २६

व्याख्या : भूत, भविष्य और वर्तमान हमारी घड़ियों के अनुसार होते हैं, हमारी आयु सीमा के अनुसार होते हैं। जो हमारे सामने हो रहा है, वह वर्तमान है। जो होने वाला है, वह भविष्य है। जो हो चुका है, वह भूतकाल है। कल्पना कीजिए उस ब्रह्म की जिसमें संपूर्ण सृष्टि समाई हुई है, जो अनादि है, जो अनंत है, उसके सामने भूत, भविष्य और वर्तमान का क्या अर्थ रह जाता है?

इस श्लोक के अंतिम भाग में भगवान कहते हैं कि मेरे वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जानता, इसका तात्पर्य हमें पिछले श्लोक के अंतिम भाग से ज्ञात होता है, जिसमें भगवान ने कहा है कि न तो मेरा जन्म होता है, न ही मेरा नाश होता है। जिसका जन्म और नाश नहीं होता है, उसका भूत और भविष्य कैसे हो सकता है? वह साक्षात् ब्रह्म है, जो सदा से है, सदा के लिए है। मेरे इस स्वरूप को कोई नहीं जानता, भगवान के इन शब्दों का आशय है, श्रद्धाविहीन अज्ञानी जन नहीं जानते, मूढ़ जन नहीं जानते हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।२७।

भावार्थ : हे शत्रुओं को तपाने वाले भरतवंशी अर्जुन, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वंद्वों के मोह से सभी प्राणी ग्रसित हैं: २७

व्याख्या : सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, राग-द्वेष, शीत-उष्ण, इन सभी

विपरीत भावों के जोड़े द्वंद्व से प्राणी इसलिए ग्रसित है कि उनकी इच्छामें, कामनायें अधिक हैं। तात्पर्य यह है कि उन द्वंद्वों से बचने के लिए इच्छायें सीमित करनी होंगी।

येषां त्वन्तगतं पाप जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रता:।२८।

भावार्थ : जिन शुभ कर्म करने वालों के पाप नष्ट हो गये है, वे सुख-दुःखादि के द्वंद्वों के मोह से मुक्त होकर दृढ़ निश्चय से मेरा भजन करते हैं: २८

व्याख्या : जब तक पाप के संस्कार होते हैं, तब तक अशुभ कर्मों में रुचि होती है। अनेक जन्मों की साधना के उपरांत जिनके पाप संस्कार समाप्त होते हैं, वे ही विघ्न-बाधाओं के बावजूद प्रभु का स्मरण करते हैं। मेरी भक्ति की सुधि ही उन्हें आती है, जिनके पुण्यकाल का आरंभ हो गया है। मद्य-निषेध संबंधी प्रदर्शनियों, शिविरों में वे नहीं जाते हैं, जो पीते-पिलाते हैं, वे ही जाते हैं, जिनके इस विषय के संस्कार क्षीण होते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।२९।

भावार्थ : बुढ़ापा और मृत्यु से मुक्त होने के लिए जो लोग मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मों की गति को जान लेते हैं: २८

व्याख्या : क्या ऐसा संभव है कि व्यक्ति को बुढ़ापा न आये और वह मरने से भी बच जाये। हां, यह तभी संभव है जब कि व्यक्ति जन्म के बंधन से मुक्त हो जाये। मोक्ष एक ऐसी स्थिति हैं, जिसमें अगला जन्म नहीं होता। जब जन्म ही नहीं होता तो बुढ़ापा और मृत्यु कैसे आ सकती है? यहा मोक्ष पाने का उपाय है, प्रभु की शरण में आना।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदु:।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतस:।३०।

भावार्थ : जो मनुष्य मुझको अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ जानते हैं, वे अत काल में मुझे जानते हैं: ३

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने जीवन के अंतिम समय को बहुत महत्व दिया है। उस समय अंत करण में जो भाव प्रबल होता है, उसी आधार पर उसे नया जन्म मिलता है। जो अंतकाल में भगवान का स्मरण करते हैं, वें ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, अर्थात् उन्हें मोक्ष मिलता है।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, इन विषयों का विवरण भगवान अगले अध्याय के प्रारंभ दे रहे हैं, इसलिए इनकी व्याख्या भी अगले अध्याय में आयेगी।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्याय:॥७॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एव ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र
विषयक श्रीक्रष्ण और अर्जुन के संवाद में 'ज्ञान-विज्ञानयोग' नामक सातवां अध्याय
संपूर्ण हुआ।

आठवां अध्याय

अक्षर ब्रहम योग

अक्षर उसे कहते हैं, जिसका क्षरण न हो, जिसका नाश नहीं होता, अविनाशी ब्रह्म के अनेक पक्षों को इस अध्याय में बताया गया है।

मृत्यु की घड़ी कैसे बिताई जाये कि अगला जन्म सुधर जाये या मोक्ष प्राप्त हो जाये, इस विषय में भी भगवान ने अर्जुन को इस अध्याय में बताया है। उत्तरायण, दक्षिणायन, शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष, इन समयों का मोक्ष से संबंध है अथवा इन शब्दों में कोई गूढ़ अर्थ छिपा है? इसकी व्याख्या भी इस अध्याय में होनी है।

इस अध्याय में भगवान ने सृष्टि-रचना को ब्रह्मा का दिन तथा प्रलय को ब्रह्मा की रात कहा है। ब्रह्मा का यह दिन और रात कितनी लंबी होती है, यह भी इस अध्याय का विषय है और निष्कर्ष यह है कि मरणकाल की कामनायें और इच्छायें प्रलय काल में भी समाप्त नहीं होती, सुप्त रहती हैं। सृष्टि का आरंभ होने पर पुरानी कामनाओं के साथ नया जन्म मिलता है।

इस अध्याय का आरंभ अर्जुन के प्रश्न से होता है। यह प्रश्न पिछले अध्याय में भगवान की उस वाणी से उपजता है कि जो मनुष्य मुझको, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ जानते हैं, वे अंतकाल में मुझे जानते हैं। इन शब्दों के अतिरिक्त अर्जुन की अन्य जिज्ञासाये हैं, जो इन आरंभिक दो श्लोकों से व्यक्त होता हैं।

अर्जुन के सात प्रश्न

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे पुरुषोत्तम, यह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहते हैं? अधिदैव किसे कहते हैं?: १

अधियज्ञ: कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।२।

भावार्थ : हे मधुसूदन, इस देह में अधियज्ञ कौन है और कैसे है और मृत्यु के समय चित्त को स्थिर करने वालों द्वारा आप किस प्रकार जाने जाते हैं: २

भगवान के उत्तर

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं, स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्ग: कर्मसंज्ञित:।३।

भावार्थ : भगवान बोले, जिसका कभी नाश न हो, वह सर्वोपरि ब्रह्म है, जीवों के स्वरूप द्वारा ब्रह्म का जो स्वभाव प्रकट होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं, जड़ चेतन आदि सृष्टि रचने की क्रिया ब्रह्म का कर्म है: ३

व्याख्या : अर्जुन के सात प्रश्नों में से तीन का उत्तर भगवान ने इस श्लोक में दिया है। पहला प्रश्न: ब्रह्म क्या है? इसका उत्तर है जिसका क्षय न हो, जिसका नाश न हो, जो कभी घटे-बड़े नहीं।

दूसरा प्रश्न: अध्यात्म क्या है? सभी जीव ब्रह्म का अंश हैं, जीवों की ओर से ब्रह्म को पहचानने की विद्या अध्यात्म विद्या है।

अर्जुन का तीसरा प्रश्न मुनष्य का कर्म जानना नहीं हैं, अपितु ब्रह्म का कर्म जानना है। इसका उत्तर है, ब्रह्म का कर्म सृष्टि की रचना करना है। यह सृष्टि अपने आप नहीं चल रही, इस सृष्टि के संचालन के पीछे ब्रह्म का कर्म है।

अधिभूतं क्षरो भाव: पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभूतां वर:।४।

भावार्थ : उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले शरीरों में ठहरा हुआ ब्रह्म अधिभूत कहलाता है। देवों में व्याप्त ब्रह्म के स्वरूप को अधिदैव कहते हैं। हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन, इस देह में में ही अधियज्ञ हूं: ४

व्याख्या : चौथा प्रश्न: अधिभूत कौन है, इसका उत्तर है, नाशवान भौतिक शरीर में वास करने के कारण ब्रह्म को अधिभूत भी कहते हैं।

पांचवें प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं, देवों में श्रेष्ठ देवत्व भाव ब्रह्म का आधिदैव रूप है और छठे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान अर्जुन पर प्रकट कर देते हैं कि वह ब्रह्म मैं हूं, जो इस शरीर में अधियज्ञ के रूप में विराजमान हूं।

अधियज्ञ का आशय यह है कि यह सारी सृष्टि ब्रह्म द्वारा किया जाने लगन यज्ञ है जिसमें ब्रह्म का अपना कोई लाभ या प्रयोजन नहीं हैं। अर्जुन के सातवें का उत्तर भगवान अगले लोक में देते हैं।

अंतकाल में स्मरण का महत्त्व

अन्तकाले च मामेव स्मरग्क्चा कलेवरम्।
य: प्रयाति स मद्भाव याति नात्त्वत्र संशय:।५।

भावार्थ : अंतकाल में जो मनुष्य एक मात्र मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे स्वरूप में मिल जाता है, इसमें संदेह नहीं है: ५

व्याख्या : ईश्वर के स्वरूप में मिलने को ही मोक्ष कहते हैं। अर्जुन का अगला संभावित प्रश्न है कि जो व्यक्ति अंतकाल में भगवान का स्मरण नहीं करता उसकी क्या दशा होती है? इस संभावित प्रश्न का उत्तर भगवान उसके पूछने से पूर्व देते हैं।

यं यं वारि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तै तमेवैति कौन्तेय यदा तद्भावभावितः।६।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र अर्जुन, जो मरण-काल में जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह उसी भाव को पाता है, और अंतिम समय में वही भाव स्मरण में आता है, जिसमें वह सदा लीन रहा हुआ होता है: ६

व्याख्या : भाव का अर्थ भावना भी है, स्वभाव भी है और अस्तित्व भी है। यहां भाव के तीनों अर्थ उचित लगते हैं। जो लोग समझते हैं कि प्रभु स्मरण में जल्दी क्या है, अंतकाल में स्मरण कर लेंगे, उन्हें भगवान सचेत करते हैं कि अंतकाल में वही कुछ स्मृति में आता है जिसे व्यक्ति जीवन के अधिकांश समय में कहता-करता रहा होता है। जीवनभर खाने की कामना हो या पति-पत्नी, संतान या धन-संपत्ति से मोह रहा हो, अंत समय में वही कामना प्रबल हो जाती है, इसलिए परोपकार के काम या ईश्वर-स्मरण को बुढापे के लिए टालना या अंतिम घड़ी के लिए टालना व्यर्थ है। शुभ कामनाएं हैं तो

अच्छा जन्म मिलता है। जीवन की अंतिम घड़ी को सुधारने के लिए अभी से वैसी जीवन-शैली विकसित करनी चाहिए, इसी बात पर जोर देते हुए भगवान अगले श्लोक में कहते हैं:

तस्माष्स्मृर्वेपु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मध्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।७।

भावार्थ : इसलिए हे अर्जुन, तू हर समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि को लगाकर तू मुझे नि:संदेह प्राप्त करेगा: ७

व्याख्या : यहां प्रभु का स्मरण करने के साथ युद्ध करने के लिए भगवान आदेश दे रहे हैं। यहां युद्ध का तात्पर्य कुरुक्षेत्र तक सीमित नहीं हैं, जीवन में हर संघर्ष का समय युद्ध का समय है। संघर्ष के समय प्रभु को नहीं भूलना चाहिए। भगवान कहते हैं, तू नि:संदेह मुझे प्राप्त कर लेगा। भगवान को प्राप्त करना कीसी वस्तु की प्राप्ति जैसा नहीं है, बल्कि श्रीक्रष्ण की देह के पीछे ब्रहम स्वरूप को पहचानना ही भगवान को प्राप्त कर लेना है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परम पुरुष दिव्य याति पार्थानुचिन्तयन।७।

भावार्थ : हे पार्थ, जो मनुष्य चित्त को दूसरी ओर न भटकने देकर परम दिव्य पुरुष के प्रति एकाग्र होने का निरंतर अभ्यास करता है, वह उसीको प्राप्त करता है: ८

व्याख्या : परम दिव्य पुरुष से आशय परम ब्रह्म है और इस श्लोक में अभ्यास पर भगवान ने विशेष जोर दिया है। जो कार्य एक दिशा की ओर निरंतर किया जाता है, वह अभ्यास कहलाता है। नित्य योगासन करना भी अभ्यास है। नित्य अध्यन करना भी अभ्यास है। जीवन के इन छोटे कार्यों को करने के लिए जैसे अभ्यास की जरूरत पडती है, वैसे ही परम ब्रह्मा को पाने के लिए भी नित्य अभ्यास की जरूरत है। जिस ब्रह्मा का अन्तकाल में ध्यान करना है, उसका स्वरूप क्या है और उसके ध्यान की विधि क्या है, यह अगले श्लोकों में भगवान बताते हैं।

अंतिम समय में ध्यान की विधि

कविं पुराणमनुशासितार—
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्य:।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप—
मादित्यवर्ण तमस: परस्तात्।९।
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रर्वोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैती दिव्यम्।१०।

भावार्थ : जो व्यक्ति मरण-काल में मन को स्थिर करके भक्ति से भीगकर और योगबल से दोनों भौंहों के मध्य भाग में प्राण को टिकाकर उस स्रजनकर्ता, पुरातन, सबके शासक, अणु से भी सूक्ष्म, सबके पालनहार, अचिन्त्य, सूर्य के समान तेजस्वी, अंधकाररहित दिव्य परम पुरुष का स्मरण कर्ता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है: ९, १०

व्याख्या : इन दो श्लोकों में भगवान ने ब्रह्मा रूपी दिव्य परम पुरुष की महिमा बतायी है। ब्रह्मा की महिमा इस प्रकार है। उसने सारी स्रष्टि रची है, इसलिए वह सृजनकर्ता है, उससे पहले कोई नहीं था, इसलिए वह पुरातन है। वह एक नियम से सृष्टि को चला रहा है, इसलिए वह सबका शासक है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव में भी बसा है, इसलिए उसे अणु से भी सूक्ष्म कहा है। सभी जीव उसके भरोसे पल रहे हैं, इसलिए वह पालनहार है। मन, बुद्धि, उसके स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकते, इसलिए वह अचिंत्य कहलाता है। प्रभु स्वयं प्रकाश का पुंज है इसलिए उसे सूर्य के समानं तेजस्वी कहा है।

ये विशेषतायें स्मरण करने से भक्ति दृढ़ होती है। स्मरणकर्ता को अनुभव होता रहता है कि जिसमें वह डूबने का यत्न कर रहा है, वह अलौकिक है। उस जैसा विश्व में अन्य कोई नहीं है।

इतनी विशेषताओं से भरे उस परम पुरुष को प्राप्त करनें के लिए दोनों भौंहों के मध्य प्राणों को टिकाने का आदेश हैं। इससे पूर्व पांचवें अध्याय में भगवान ने दोनों भौंहों के मध्य के स्थान को देखने के लिए कहा था, अब प्राण टिकाने के लिए कहा है। पहले की विधि नित्य अभ्यास के लिए है। यह विधि उससे ऊंची अवस्था है। पहली विधि के निरंतर अभ्यास के उपरांत यह विधि सफल होती है तथा सुगमता से प्राण निकलते हैं।

प्राण टिकाने की सरल विधि

प्राचीन शास्त्रों में श्वास को प्राण कहा गया है। प्राणों को अपनी इच्छाशक्ति द्वारा टिकाने के लिए अनेक मत-मतांतरों ने विधियां बतायी हैं, उनमें से एक विपश्यना विधि हमारे अनुभव के अनुसार सरलतम है।

विपश्यना में सहस्रार अर्थात् मस्तिष्क के भीतरी भाग में ध्यान टिकाया जाता है। भगवान भौहों के मध्य ध्यान टिकाने के लिए कह रहे हैं, इस विधि को हम विस्तार से दे रहे हैं।

भौंहों के मध्य प्राण टिकाने की विधि

सुगमतापूर्वक आसन लगाकर बैठ जाइए। अपने इष्टदेव की मन में कल्पना कीजिए। तत्पश्चात् इष्टदेव का ध्यान मन से हटाकर अपनी नासिका के अग्र भाग का ध्यान कीजिए। पलकें मूंद लीजिए। नासिका के छिद्रों द्वारा प्यास को सहजभाव से लेते रहिए, छोड़ते रहिए। श्वास को रोकने या उसकी गति तेज करने या धीमी करने का यत्न मत कीजिए, जैसे श्वास आता-जाता है, उसे उसी सामान्य गति से आने-जाने दीजिए। बस इतना अनुभव रहे कि श्वास-निश्वास जौ आ-जा रहा है वह मैं नहीं ले रहा दूं। यह क्रिया जो अनजाने में दिन-रात होती रहती है, अब मैं इस क्रिया को अनुभव कर रहा हूं।

सांस लेने-छोड़ने की क्रिया का अनुभव करते समय मन अनेक जगह जायेगा, जैसे दुकान, कार्यालय, भूतकाल, भविष्य, संतान, पति, पत्नी, पिता, समाज आदि कहीं भी जायेगा? जैसे ही अनुभव हो कि ध्यान सांस की आवाजाही का निरीक्षण करने से भटक गया है, उसी क्षण ध्यान को सांस की आवाजाही अनुभव करने के लिए लौटा लें। यह अभ्यास करने से आपको अपूर्व शांति प्राप्त होगी।

नित्य पंद्रह मिनट प्रात:, पंद्रह मिनट सायं, यह अभ्यास एक सप्ताह जारी रखें। फिर आपको सांस के निरीक्षण में आनद प्राप्त होने लगेगा। दूसरे सप्ताह इस अभ्यास को अधिक गहरा बनाना है। गहरे में प्रवेश करने की विधि इस प्रकार है:—

नासिका के अग्रभाग पर एक मिनट के लिए ध्यान टिकाकर आंखें बंद कर लीजिए और सांस की आवाजाही को अनुभव कीजिए। तत्पश्चात् आपने शरीर के सभी अंगों का एक-एक करके ध्यान करना है। अपने शरीर के ऊपरी अंगों के नीचे के अंगों का कल्पना-चक्षुओं द्वारा निरीक्षण करना है। यथा नाक, मुंह, गला, गर्दन का पृष्ठ भाग व पीठ, गुदा, जंघाएं, टांगें, पांव। इसी प्रकार शरीर के पृष्ठ भाग का निरीक्षण पूरा हो जाता है।

उसके उपरांत पांव की उंगलियों का ध्यान करते हुए शरीर के अगले भाग का निरीक्षण करना है, पांव की उंगलियों से टांग, जंघाएं, मूत्र अंग, नाभि, छाती कंधे, गर्दन, मुंह, गला तथा नाक।

बंद आंखों से शरीर के अवलोकन की यह यात्रा पूरी होने पर आंखें खोल लें, आपको काफी हल्केपन का अनुभव होगा और शाति प्राप्त होंगी।

यदि शरीर के अंगों का निरीक्षण करने के दौरान आपका ध्यान भटककर अन्य व्यक्ति या विचार की ओर जाये तो ध्यान को पुन: उस अन्त पर ले आयें, जिस अंग से ध्यान भटक गया था। उस भटकने से ग्लानि या पश्चात्ताप का अनुभव न करें। ध्यान का यह अभ्यास एक सप्ताह तक करने के उपरांत इससे अगली सीढ़ी पर चढ़े। तीसरे सप्ताह का अभ्यास इस प्रकार है:—

पांच मिनट नाक से साँस की आवाजाही पर ध्यान टिका। फिर एकदम पांच की उँगलियों का ध्यान कीजिए और नीचे से ऊपर तक के अंगों का कल्पना-चक्षुओं द्वारा अवलोकरन करते हुए अंत में दोनों भौंहों के मध्य अपने ध्यान को ले आइए और ध्यान उसी स्थान पर टिका दीजिए।

यदि आप नियमित रूप से यह साधना करते रहेंगे तो तीन-चार सप्ताह के अभ्यास के उपरांत आपका ध्यान भोंहों के मध्य भाग पर टिक जायेगा। आरंभ में आधेक मिनट यहा ध्यान टिकाना है, उसके उपरांत धीरे-धीरे उस सगन पर ध्यान टिकाने की अवधि बढ़ा सकतै हैं। जो कुछ भी करना है, सहज भाव से करना है बाध्यतापूर्वक करने से लाभ नहीं होता।

इस ध्यान-विधि के सिद्ध होने के उपरांत दोनों भौंहों के मध्य से ध्यान हटाकर अपने इष्टदेव का स्मरण करें। उनका रूप ध्यान में लायें। किंतु सांस का निरीक्षण करते समय सांस के अतिरिक्त कहीं ध्यान न जाने दें। न ही शरीर के अंगों का निरीक्षण करते समय अन्य किसी नाम, रूप को ध्यान की सीमा में आने दें। सांस कुंजी है, अपने शरीर के भीतरी भाग में प्रवेश करने की।

जब कभी इंद्रियों को अपने विषयों से हटाने की आवश्यकता पड़े तो सांस की ओर ध्यान दें। इंद्रियां अपने विषयों से हट जायेगी।

साकार उपासना सांस के निरीक्षण से पहले या बाद में की जा सकती है। सांस के निरीक्षण करने के उपरांत साकार में टिकने की एकाग्रता बढ़ती है। सांस पर ध्यान टिकाने से अस्थिर मन को स्थिरता मिलती है और वह आपके इच्छित आकार पर टिक सकता है।

ध्यान की अन्य विधियां भी हैं, यहां केवल वही विधि बताई है जो हमारे अपने अनुभव में आयी है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पद संग्रहेण प्रवक्ष्ये।११।

भावार्थ : वेद के जानने वाले जिसे अक्षर कहते हैं, जिसमें यतिजन प्रवेश करते हैं, तथा जिस परम पद को चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परम पद के विषय में मैं तुझे संक्षेप में कहता हूं: ११

व्याख्या : इंद्रियों का संयम करने वाले को यति कहते हैं। ब्रह्मचर्य भी इंद्रियों के संयम का एक रूप है। अक्षर उसे कहते हैं, जिसका नाश नहीं होता। उस अक्षर ब्रह्म में प्रवेश करने का अर्थ है अपना आपाखो देना। आपा या अहंकार के कारण हम ब्रह्म के अंश होकर भी अपने को अलग से मानते हैं। हम ब्रह्म का भाग हैं, इसका ज्ञान होते ही हमारे और ब्रह्म के मध्य की अदृश्य दीवार टूट जाती है, उसी स्थिति को ब्रह्म में प्रवेश होना कहते हैं।

ॐकार साधना

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मुध्र्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।१२।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।१३।

भावार्थ : सभी इंद्रियों को उनके विषयों से हटाकर, मन को अपने हृदय में स्थिर करके, प्राण को अपने मस्तिष्क के भीतरी भाग भूखा में स्थापित करके योग द्वारा आत्मा में एकाग्र होकर तथा ओम् अक्षर का उच्चारण करता हुआ मेरा चिन्तन करके जो देह त्यागता है, वह इस संसार से प्रयाण करके परम गति प्राप्ति करता है: १२, १३

व्याख्या : इन्द्रियों को विषयों से हटाने की विधि हम बता चुके हैं कि सांस पर ध्यान देने से इन्द्रियां अपने-अपने विषयों से हट जाती हैं। इस श्लोक में मन को हृदय में स्थिर करने के लिए कहा है। यह हृदय दिल (Heart) नामक अंग नहीं है। प्राचीन काल में नाभि और कंठ तक के सारे भाग को हृदय कहते थे। इससे पूर्व भगवान ने प्राणों को भोंहों के मध्य स्थिर करने के लिए कहा था। अब हृदय में मन को स्थिर करने के उपरान्त मस्तिष्क के भीतरी भाग मूर्धा में स्थिर करने के लिए कह रहे हैं। भोंहों के मध्य भाग में आज्ञाचक्र है और यह शस्त्र पंखुड़ियों वाला कमल पुष्प जैसा है, जो मस्तिष्क के केंद्र में उल्टा लटका रहता है। इस केंद्र के जाग्रत होने से परमानंद की प्राप्ति होती है।

गीता काव्य के रूप में कही गयी है। काव्य में लय, स्वर, छंद का मेल बिठाने के लिए शब्दों को इधर-उधर करना पड़ता है, इसलिए कुछ श्लोकों के अर्थ कठिनता से समझ में आते हैं। पिछले तीन श्लोकों को इन दो श्लोकों के साथ रखते हुए भगवान की बताई विधि के समझने का यत्न करते हैं।

सहस्त्रार पर ध्यान टिकाने की विधि

इसी अध्याय के नौवें, दसवें श्लोक की व्याख्या में हमने एक साधना विधि बताई है, जिससे इच्छित स्थान पर ध्यान टिकाया जा सकता है। इसी प्रक्रिया के अनुसार सांस का निरक्षण करके नाभि और गर्दन के मध्य भाग में आप ध्यान टिका सकते हैं। यह स्थान दोनों फेफड़ों के मध्य में पड़ता है, तत्पश्चात उपरी भागों का ध्यान करते हुए मस्तक के भीतरी भाग में ध्यान स्थिर कर दें। फिर ॐ का जाप करें।

ॐ के जाप की विधि

अधखुले होंठों से 'ओं' स्वर का उच्चारण आरम्भ करें, इससे सांस मुख के रास्ते से बाहर जायेगी। तत्पश्चात होठों को बंद कर लें, तो सांस मुख के रास्ते से निकलते की बजाय नासिक के रास्ते से निकलते की बजाय नासिक के रास्ते से निगलेगी और 'ओं' का स्वरूप 'अउम' बन जायगा और ध्वनि-तरंगे शरीर के भीतरी अंगों को तरंगित करने लगेगी। आप अनुभव करेंगे के आपकी नाभि के भीतरी भाग के आसपास कुछ हलचल हो रही ही। जितनी देर तक सुविधापुर्वक ओम का अंतिम अक्षर 'म' का उच्चारण हो सके, करने के उपरान्त नासिका से सांस लेकर प्रक्रिया के अनुसार 'ओ' से उच्चारण अल्प अवधि के लिए करें। 'म' का उच्चारण लम्बी अवधि के लिए करें। क्योंकि 'म' के उच्चारण के समय होंठ बंद रहने के कारण भीतर के द्वार खुलते हैं। मध्य में सांस लेने की आवश्यकता पड़े तो नाक से सांस लेकर पुन: 'ओ' से उच्चारण आरंभ करें। बारंबार यह अभ्यास करने से शरीर के सभी भीतरी चक्रों में स्पंदन होता है और ध्यान सांसारिक विषयों से हट जाता है। अंत समय में सांसरिक विषयों से ध्यान को हटाने से ही मोक्ष मिलता है, पुनर्जन्म नहीं होता।

जो बात भगवान के ने अंत समय के लिए कही है, उसका अभ्यास अभी से आरंभ करने से यह साधना अंत समय तक सिद्ध हो जाती है।

अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्ययुक्तश्च योगिन:।१४।

भावार्थ : हे पार्थ, जो सदा मुझमें एकाग्र होकर निरंतर मेरा स्मरण करता है, मुझमें सदा तल्लीन रहता है, उस योगी के लिए मैं सहज सुलभ हूं: १४

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गता:।१५।

भावार्थ : परम सिद्धि को प्राप्त महात्माजन, मुझे पाकर अस्थायी और दुःखों के घर जन्मजन्मांतर के चक्कर में नहीं पड़ते: १५

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।१६।

भावार्थ : हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक के सभी लोकों से पुनः-पुन: लौटकर आना पड़ता है, परंतु हे कुंतीपुत्र, मुझे पाने के उपरांत पुनर्जन्म नहीं होता: १६

व्याख्या : अच्छे कर्मों से स्वर्ग मिलता है, बुरे कर्मों से नरक मिलता है। अच्छे या बुरे कर्मों का फल पाने के बाद फिर नया जन्म मिलता है। कामनायें लेकर ब्रह्मलोक में जो पहुंचते हैं, वे भी पुनर्जन्म से मुक्ता नहीं होते। इसी सदंर्भ में भगवान अगले श्लोकों, में ब्रह्मा के दिन और रात का विवरण देकर पुन: इसी विषय पर आयेंगे।

ब्रह्मा के दिन और रात

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु:।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना:।१७।

भावार्थ : ब्रह्मा के दिन और रात का रहस्य जानने वाले समझते हैं कि ब्रह्मा का दिन एक हजार युग का और ब्रह्मा की रात्रि एक हजार युग की होती है: १७

व्याख्या : युग से तात्पर्य चतुयुर्ग है। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के वर्षों की

अवधि मिलाकर एक च्तुयुर्ग बनता है। ऐसे एक हजार युगों के बराबर ब्रह्मा का एक दिन होता है। इस गणना के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन हमारे ४३०,००,००,००० वर्षों के बराबर है। इतनी ही लम्बी ब्रह्मा की रात्रि है।

ब्रह्मा के दिन और रात्रि की गणना एक वैज्ञानिक सूझ के आधार पर हुई। यह लम्बे समय को संक्षिप्त करके बताने की विधि है। हमारी गिनती लाख, करोड़ अर्ब, खरब के पुरान्त समाप्त हो जाती है। उससे अधिक बड़ी गणना को संक्षिप्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। ब्रह्मा के दिन और रात ऐसे ही प्रतीक हैं। संक्षेप करने की ऐसी विधियां आधुनिक नक्षत्र वेग्यानिओं ने भी बनाई हैं। इन अरबों-खरबों की संख्या को संक्षिप्त करने के लिए वज्ञानिक ने प्रकाश की गति को पैमाना बनाया है।

प्रकाश की किरण एक सेकंड में तीन लाख किलोमीटर की दूरी तय करती है। इस गति से चलने वाली सूर्य की किरण, सूर्य से हमारी प्रथ्वी तक आठ मिनट अठारह सेकंड में पहुंचती है। वज्ञानिक यह नहीं कहते कि सूर्य हमारी प्रथ्वी से एक अरब, उनचास करोड़, छपन लाख किलोमीटर दूर है, बल्कि कहते हैं। कि सूर्य हमसे आठ मिनट अठारह सेकंड प्रकाश समय के अनुसार दूर है।

यह दूरी हमारी निकटतम तारे की है। हमारी सूर्य आकाश में स्थित सर्पिल मंदाकिनी के केंद्र से लगभग तीस हजार प्रकाश वर्ष की दूरी पर है। और पूरी मंदाकिनी का घेरा एक लाख प्रकाश वर्ष है। ऐसी अनेकों आकाशगंगायें विश्व में फ़ैली हुई हैं।

जिस प्रकार विश्व में दूरियों की नाप को संक्षिप्त बनाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक ने प्रकाश की गति को पैमाना बनाया है, उसी प्रकार समय की विशालता को नापने के लिए हमारे प्राचीन मनीषियों ने ब्रह्मा के दिन और रात के कल्पना की है। जिस प्रकार विश्व के नक्षत्रों के मध्य की दूरियां फुटों और मंत्रों से नहीं नापी जा सकती, उसी प्रकार स्रष्टि के काल को नापने के लिए घंटे और मिनटों की घड़ियां पर्याप्त नहीं होतीं।

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।१८।

भावार्थ : जड़-चेतन युक्त सभी पदार्थ और जीव ब्रह्मा के दिन के समय अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं, ब्रह्मा की रात्री के समय वे सभी अव्यक्त हो जाते हैं: १८

व्याख्या : ब्रहमा के दिन को कल्प कहते हैं, ब्रह्मा की रात्रि को प्रलय कहते हैं। भगवान कहते हैं कि सृष्टि के कीसी भी पदार्थ की सत्ता समाप्त नहीं होती, बल्कि वे सत्तायें प्रलय काल में स्थूल रूप त्यागकर सूक्ष्म रूप धारण कर लेती हैं। और कल्प के समय सूक्ष्म से फिर स्थूल रूप धारण कर लेती हैं।

पांचभौतिक तत्त्वों का प्रकृति में लय होना उनका अव्यक्त होना है और उनमें विकार होना अर्थात् परिवर्तन होना उनका प्रकट होना है। प्रकृति के ये सभी तत्त्व अविनाशी हैं, ये कभी नष्ट नहीं होते, केवल इनके रूप बदलते हैं।

आधुनिक ज्योतिष विज्ञान कल्प और प्रलय की वास्तविकता को इस प्रकार कहता है कि पूरे ब्रह्मांड की प्रक्रिया फैलने और सिकुड़ने की प्रक्रिया है। एक सीमा तक ब्रह्मांड अपने केंद्र से फैलने के उपरांत स्वत: ही सिकुड़ने लगता है। एक सीमा तक सिकुड़ने के उपरांत फैलने लगता है। इसी सिकुड़ने कों प्राचीन भारतीय विज्ञान प्रलय कहता है और फैलने को कल्प अथवा सृष्टि-रचना कहता है।

आधुनिक और प्राचीन, ये सारी गणनायें इंद्रियों द्वारा नहीं जानी जा सकतीं, इन्हें

जानने के लिए अंतदृष्टि चाहिए। जिनके पास अंतदृष्टि नहीं है, उनके लिए आस्था के सिवा कोई चारा नहीं है। एइन्स्तिएन के सिद्धांत मेरी समझ में नहीं आते, जिनकी समझ में आते हैं, उनके कथन पर आस्था रखकर में अपने क्षेत्र में पूरा ध्यान दें सकता हूं। धार्मिक क्षेत्र में यही आस्था भक्ति का रूप धारण कर लेती है।

भूतग्रामः य एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे।१९।

भावार्थ : हे पार्थ, प्रकृति के वश में होकर पांचभैतिक प्राणियों का वही समुदाय उत्पन्न और लीन होता रहता है। ब्रह्मा की रात्रि के समय ब्रह्म में लीन होता है। ब्रह्मा के दिन के समय फिर प्रकट हो जाता हैं। ऐसा निरंतर होता रहता है: १९

व्याख्या : इस अध्याय के सोलहवें श्लोक में भगवान ने कहा है कि ब्रह्म लोक से भी लौटना पड़ता है, इसी संदर्भ में भगवान ने ब्रह्मा के दिन और रात, अर्थात् कल्प और प्रलय का विवरण दिया है और इस विषय का समापन इस 'श्लोक' में किया है कि कर्म बंधन प्रलय काल में भी समाप्त नहीं होते। पांचभौतिक जीवों का समुदाय अपने कर्मों और संस्कारों सहित ब्रह्म में लीन होने के बाद जब उत्पन्न होता है तो अपने पुराने सस्कारों के साथ उत्पन्न होता हैं। केवल मोक्ष ही जन्म-मरण के बंधन से छुड़ा सकता है और मोक्ष समर्पण से मिलता है, निष्काम कर्म सेमिलता है।

सनातन तत्त्व जो कभी नष्ट नहीं होता

परस्तस्मात्तु आवोऽन्योव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन:।
य: स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।२०।

भावार्थ : परन्तु इस अव्यक्त से अति परे सदैव रहने वाला एक अव्यक्त अस्तित्व भी है, जो सनातन है, वह पांचभोतिक देहों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता: २०

व्याख्या : इस श्लोक में पहला अव्यक्त ब्रह्मा का जड़ भाग है, जिसको प्रकृति कहते हैं, दूसरा अव्यक्त ब्रह्मा का चेतन भाग है जिसे परमात्मा कहते हैं। इनमें से प्रकृति का जड़ भाग चेतन भाग के बिना बिखर जाता है। उसका रूप बदलता रहता है। चेतन तत्व जो सनातन है, वह कभी नष्ट नहीं होता। वह सदैव एक-सा रहता है। तात्पर्य यह है कि प्रलयकाल में भी वह चेतन तत्व नष्ट नहीं होता, कल्प काल में वही चेतन तत्व पांचभौतिक तत्वों को जोड़ता है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तास्त्माहु: परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।२१।

भावार्थ : इस अव्यक्त को अक्षर कहा जाता है, इसीको परम गति कहते हैं, वह मेरा परमधाम है। इस परम धाम को पाकर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता: २१

व्याख्या : सदा रहने वाली जिस सत्ता को पूर्व श्लोक में 'अव्यक्त' कहा गया है, उसीको इस श्लोक में अक्षर कहा है। अक्षर अथार्त जिसका क्षरण नहीं होता, जिसका निनाश नहीं होता, जो सदा है। वही परम गति है, वही परम धाम है, वही परम पुरुष है। इस परम पुरुष की प्राप्ति कैसे होती है, यह अगले श्लोक में भगवान बताते हैं।

पुरुष: स पर: पार्थ भक्ता लभ्यस्त्वनन्या।
यस्यान्त:स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।२२।

भावार्थ : हे पर्थ वह परम पुरुष एकनिष्ठ भक्ति से प्राप्त होता है, उस परम पुरुष में

सभी पांचभौतिक प्राणी टिके हुए हैं, वह परम पुरुष सारे ब्रह्मांड में व्याप्त है: २२

व्याख्या : यह बात हमने अनेक जगह दुहराई है कि प्राचीन भारतीय शास्त्रों में पुरुष का अर्थ चेतन तत्व है, परम पुरुष का अर्थ है 'सर्वव्यापी चेतन तत्व'। यसे परमात्मा भी कहते हैं।

अगले श्लोक में भगवान दो मार्गों का उल्लेख करते हैं। एक मार्ग वह है, जिसका अनुसरण करके पुनर्जन्म प्राप्त होता है, दूसरे मार्ग द्वारा जन्म-बन्धन से मुक्ति मिलती है।

उत्तरायण, दक्षिणायन: दो मार्ग

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।२३।

भावार्थ : हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, मैं उस काल के विषय में तुझे कहूँगा, जिस काल में शरीर त्याग करने पर योगीजन लौटकर नहीं आते और उस काल के विषय में भी बताऊंगा, जिस काल में प्रयाण करने से लौट आते हैं: २३

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।२४।

भावार्थ : अग्नि, ज्योति, दिन का समय, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छः मास, इस समय प्रयाण करने वाले ब्रह्मवेत्ता जन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं: २४

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।२५।

भावार्थ : धुआं, रात्रि, कृष्ण पक्ष तथा दक्षिणायन के छः मास, इस समय गमन करने वाले योगीजन चंद्र ज्योति प्राप्त करके लौट आते हैं २५

शुक्लकृष्णें गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।२६।

भावार्थ : शुक्ल और कृष्ण, इनकी दो गतियां मानी गयी हैं। शुक्ल गति से जाने वाला लौटकर नहीं आता, कृष्ण गति से जाने वाला लौट आता है: २६

व्याख्या : इन श्लोकों में, गीता के अनेक विद्वानों के अनुसार यहां काल शब्द का अर्थ 'समय' नहीं, मार्ग कहा है। गति का अर्थ भी मार्ग है।

मार्ग से आशय कोई सड़क नहीं है, बल्कि एक विशेष जीवन-पद्धति है, एक विशेष विचारधारा है, एक विशेष वाद है। जिस प्रकार आज हम किसी को कबीरपंथी या वामपंथी, या वाममार्गी कहते हैं, वे किसी एक सड़क पर चलने के कारण पंथी या मार्गी नहीं कहलाते बल्कि कबीर की विचारधारा को या मार्क्स की विचारधारा को या तंत्र की एक पद्धति को मानने के कारण वे पंथी या मार्गी कहलाते हैं, वैसे ही यहां 'गति' और 'मार्ग' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार अमावस्या से पूर्णिमा तक का पन्द्रह दिन का समय शुक्ल पक्ष कहलाता है, पूर्णिमा से अमावस्या तक का समय क्रष्ण पक्ष कहलाता है। कुर्ष्ण और शुक्ल पक्ष चन्द्रमा की गति पर निर्भर होते हैं।

उत्तरायण और दक्षिणायन सूर्य के गिर्द प्रथ्वी की गति पर निर्भर हैं। वर्ष के छः मॉस में हमारे प्रथ्वी का उत्तरी गोलाध्र के एनी स्थानों में दिन लम्बे होते हैं और रातें छोटी होते हैं। ईस्वी तिथि के अनुसार यह समय २१ दिसम्बर से २० जून होता है। इन

छ: मासों को भारतीय ज्योतिष में उत्तरायण की छमाही कहा गया है।

२१ जून से सूर्य दक्षिणायण में प्रवेश करता है। उन दिनों हमारी प्रथ्वी के दक्षिणी गोलार्थ का भाग सूर्य के सामने अधिक समय तक रहता है।२१ जून से २० दिसम्बर तक की अवधि में प्रथ्वी के दक्षीणी गोलार्ध में दिन लम्बे होते, रात छोटी होती हैं और उत्तरी धुर्व में छ: मॉस की लम्बी रात होती है। इस समय को दक्षिणायन की छमाही कहते हैं।

ज्योतिष संबंधी इस जानकारी के आधार पर इन चार श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है कि जो दिन के समय प्राण त्यागते हैं या जो शुक्ल पक्ष में प्राण त्यागते हैं या जो शुक्ल पक्ष में प्राण छोड़ते हैं या जो उत्तरायण के छ: मास में प्राण त्यागते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो धुंधलके या सांय के समय दिवंगत होते हैं या क्रष्ण पक्ष में प्राण त्यागते हैं या दक्षिणायनके छ: मॉस में प्राण त्यागते हैं। वे पुन:-पुन: जन्म लेते हैं, पुन:-पुन: मरते हैं।

कुछ विद्वान इस श्लोक का अर्थ ज्योतिष शास्त्र के अनुसार नहीं लेते। वे कहते हैं कि भगवान ने दिन-रात, शुक्ल-क्रष्ण, उत्तरायण-दक्षिणायन को प्रतीक रूप में कहा है। दिन, अग्नि, ज्योति, चांदनी रातें तथा उत्तरायण के छ: मास, ये सभी ज्ञान के सूचक हैं, सतोगुण के सूचक हैं। जो ज्ञान के प्रकाश में निष्काम कर्म करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

धुंआ, धुंधलका, अंधेरी रातें, दक्षिणायन के छ: मास, ये अज्ञान अथार्त तमोगुण के सूचक हैं। जो स्वर्गादि फलों की कामनाओं के लिए तन्त्र, अनुष्ठान करते रहते हैं, वे अपने कर्मों का अच्छा या बुरा फल पाने के लिए पुन:-पुन: लौट आते हैं।

हर युग के शब्दों के अपने लाक्षणिक अर्थ होते हैं। आज के युग मैं 'लाल रंग' का अर्थ कम्युनिज्म, कमल का अर्थ भारतीय जनता पार्टी, किस्तीनुमा सफेद टोपी का अर्थ कांग्रेस, व्याईट हाउस का अर्थ अमरीका का राष्ट्रपति भवन आदि प्रतीकों के अर्थ हम समझते हैं। आज से पांच हजार वर्ष बाद वाले लोग भी इनके अर्थ यही समझेंगे, इसमें संदेह है। प्रतीक हर युग में होते हैं। भगवान क्रष्ण जब अर्जुन से संबोधित थे तो उनहोंने उस युग में प्रचलित प्रतीकों के माध्यम से बात कही होगी। उन प्रतीकों का अर्थ समझने के लिए हम गीता की मूल भावना को समझने का यत्न करते हैं।

गीता का मूल भाव है शुभ कर्म, निष्काम कर्म। इसीलिए प्रतीत होता है कि उसका उत्तरायण आदि से आशय ज्ञान, प्रकाश और शुभ कार्य है और दक्षिणायन और धुंधलका से आशय अज्ञान और कामनापूर्ण कर्म है। फिर भी गीता शास्त्र अत्यंत दुरूह हैं। हम अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार जो समझते हैं, कह रहे हैं।

उत्तरायण, दक्षिणायन का विवरण देने के उपरांत भगवान अर्जुन को मोक्ष पाने के लिए कहते हैं।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।२७।

भावार्थ : हे पार्थ, इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई योगी मोह में नहीं पड़ता, अत: तू सदा योगी बन: २७

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्सुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

योगी पर स्थानमुपैति चाद्यम्। २८।

भावार्थ : जो योगी यह जान लेता है, वह उससे अधिक फल प्राप्त करता है, जितना वेदों में यज्ञ, तप, दान आदि का फल लिखा है, वह सनातन परम पद प्राप्त कर लेता है: २८

व्याख्या : यहां योगी से तात्पर्य कर्मयोगी भी है, ज्ञानयोगी, और भक्तियोगी भी है। तात्पर्य यह है कि जो भी मार्ग ले उस पर निष्ठा से चल, एकाग्रता पूर्वक चल ढिलमिल बुद्धि वाला मत हो।

इति श्रीमद्भगवदगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मययोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'अक्षर ब्रह्म योग' नामक आठवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

नवां अध्याय

राजविद्या राजगुह्य योग

'राजविद्या' से आशय है सर्वोच्च विद्या, 'राजगुह्' से आशय है, सर्वोच्च रहस्य। इस सर्वोच्च रहस्य को समझने से पहले श्रीकृष्ण के अवतार काल पर दृष्टि ड़ालनी पड़ेगी।

उस समय वेद पढ़ने का अधिकार सभी को नहीं था और मोक्ष का रहस्य वेद तथा उसकी शाखाओं में छिपा था। केवल उच्च वर्ण के लोग ही वेदाध्ययन कर सकते थे। सामान्य जनों के लिए 'मोक्ष' का विषय रहस्य था।

यज्ञादि अनुष्ठान धनी-मानी और राजा लोग कर सकते थे। ऐसे अनुष्ठान सामान्य जनों की पहुंच से परे थे। ध्यान, समाधि जैसे उपायों के लिए लंबी साधना की आवश्यकता थी। ऐसे समय में भगवान ने भक्ति का मार्ग बताकर सभी के लिए मोक्ष के द्वार खोल दिये। उस द्वार में प्रवेश के लिए केवल श्रद्धा का भाव चाहिए। भाव के साथ एक फूल, एक पत्ते से सभी अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले फल से ऊंचा फल, मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

भक्ति का विषय गीता में अन्य अनेक स्थानों में आया है, किंतु इस अध्याय में उसको अधिक विस्तार से भगवान ने बताया है और कहा है कि भक्ति का मार्ग राजमार्ग जैसा चौड़ा मार्ग है। यह मार्ग सभी के लिए खुला है। कामनापूर्ण लंबे-चौड़े अनुष्ठानों से स्वर्गलोग मिल सकता है, उनसे पुजर्जन्म से मुक्ति नहीं मिलती। एकनिष्ठ भक्ति से जन्म-जन्मांतर के बंधनों से मुक्ति मिल जाती है।

इस अध्याय में भगवान ब्रह्म स्वरूप होकर बोल रहे हैं। और इस विषय के प्रति अर्जुन की जिज्ञासा जगाने के लिए कहते हैं :-

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।१।

भावार्थ : श्री भगवान बोले, तुझमें दोष ढूंढने की प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए मैं तुझे अति गुप्त ज्ञान और उस ज्ञान को प्रयोग में लाने की विधि कहता हू, इसे जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जायेगा: १

व्याख्या : ज्ञान पात्र को दिया जाता है। कुपात्र को दिया हुआ ज्ञान ऐसे है, जैसे बंदर के हाथ में उस्तरा। जो व्यक्ति दूसरों के दोष ढूंढता रहता हो, वह ज्ञान में भी छिद्र ढूंढ़ लेता है। भगवान अर्जुन की पात्रता बताते है कि तुझमें छिद्रान्वेषण की प्रवृति नहीं है, इसलिए तू इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी है। इस ज्ञान को अनुभव में लाने से तू दुःखमय संसार से मुक्त हो जायेगा अर्थात् तुझे मोक्ष प्राप्त हो जायेगा।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।२।

भावार्थ : यह ज्ञान सभी विद्याओं से ऊंचा है, परम गोपनीय है, अति पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष फलदायक है, धर्मपूर्वक है, अभ्यास के लिए सरल है और इसके फल का नाश नहीं होता: २

व्याख्या : अर्जुन की जिज्ञासा बढ़ाने के लिए भगवान ने इस ज्ञान की विशेषतायें

इस श्लोक में बताई हैं। इस ज्ञान में श्रद्धा न रखने वाले की दशा के विषय में भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि। ३।

भावार्थ : हे शत्रुतापक अर्जुन, इस धर्ममय ज्ञान में श्रद्धा न रखने वाले मुझ ब्रह्म तक नहीं पहुंच पाते, वे जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं: ३

गुह्य ज्ञान यह है. . .

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:। ४।

भावार्थ : यह सारा संसार मुझ निराकार रूप में व्याप्त है। सभी पांचभौतिक प्राणी मुझमें स्थित हैं, किंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूं: ४

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृत्र च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन:। ५।

भावार्थ : तू मेरी ईश्वरीय योग शक्ति देख कि मैं सभी पांचभौतिक प्राणियों को उत्पन्न करने वाला, धारण और पोषण एवं पालन करने वाला हूं, फिर भी मैं उनसे पृथक हूं: ५

व्याख्या : इन दोनों श्लोकों में दो परस्पर विरोधी बातें प्रतीत होती हैं कि सभी प्राणी मुझमें स्थित है और मैं उनमें स्थित नहीं हूं और उनके इस विरोधाभासी वक्तव्य का रहस्य यह है कि ब्रह्मरूपी भगवान सभी प्राणियों के आधार हैं, किंतु कोई प्राणी भगवान का आधार नहीं बन सकता। सभी प्राणियों का आधार होने के बावजूद भगवान का किसी प्राणी से आसक्ति का संबंध नहीं है, इसलिए भगवान सबको उत्पन्न करने वाले, सबको धारण करने वाले अर्थात् आश्रय देने वाले हैं और सबका पोषण करने वाले होने के बावजूद उनसे उनका किसी से राग-द्वेष का संबंध नहीं है। इसलिए वे सबसे पृथक हैं। यह प्रभु की ईश्वरीय शक्ति है जिसे देखने-समझने के लिए भगवान अर्जुन को प्रेरणा दे रहे है। अगले श्लोक में भगवान इस बात को उदाहरण देकर समझाते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायु: सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय। ६।

भावार्थ : जैसे आकाश में विचरण करने वाला महान् वायु सदा आकाश में स्थित है, वैसे ही सभी पांचभौतिक प्राणी मुझमें स्थित है, तू ऐसा जान: ६

व्याख्या : प्रकृति के पंचतत्वों में आकाश सबसे प्रथम, सबसे सूक्ष्म तत्त्व है। आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। आकाश का स्वभाव घर्षणहीनता है। वायु का स्वभाव गति है। वायु में अंधड़-तूफान आते रहते हैं, जाते रहते हैं, किंतु वे आकाश को प्रभावित नहीं करते हैं। वैसे ही ब्रह्म सभी प्राणियों को अपने में समेटे हुए हैं, फिर भी उनसे लिप्त नहीं होते।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। ७।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र अर्जुन, सब जड़, चेतन आदि पदार्थ, प्राणी कल्प के अत में मेरी प्रकृति में समा जाते हैं, और कल्प के आरभ में मैं उनको फिर रचता हूं: ७

व्याख्या : भगवान आठवें अध्याय में कह आये हैं, कल्प ब्रह्मा के दिन को कहते हैं, प्रलय ब्रह्मा की रात्रि को कहते हैं। इन श्लोकों में भगवान ब्रह्मस्वरूप होकर अर्जुन से संबोधित हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन: पुन:।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।८।

भावार्थ : प्रकृति को माध्यम बनाकर मैं बार-बार इन्ही पांचभौतिक प्राणियों को उत्पन्न करता हूं। ऐसा होना प्राणियों की विवशता है: ८

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।९।

भावार्थ : हे धनंजय अर्जुन, सृष्टि-रचना का कर्म करते रहने पर भी मैं कर्मों के बंधनों से मुक्त हूं, क्योंकि मेरा यह कार्य तटस्थ भाव से है और आसक्ति से रहित होता है: ९

व्याख्या : अपने उदाहरण से भगवान अर्जन को बता रहे हैं कि आसक्ति और कामना से रहित होकर तटस्थ भाव से किया जाने वाला कोई भी कार्य कर्मों के बंधन में नहीं बांधता।

मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेक कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।१०।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति सारे चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और इसी प्रकार संसार आवागमन के चक्र में घूमता रहता है: १०

जो ब्रह्म के इस रहस्थ को नहीं जानते...

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं, भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।११।

भावार्थ : मुझे मनुष्य रूप में देखकर मूढ़जन मुझ ब्रह्म को नहीं जानते कि मैं ही सभी प्राणियों का ईश्वर हूं, इस अज्ञान के कारण वे मेरी अवज्ञा करते हैं: ११

मोघाशा मोघकमाणो मोघज्ञाना विचेतस:।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता:।१२।

भावार्थ : ऐसे मूढ़ जनों की आशायें व्यर्थ हैं, कर्म निष्फल हैं, ज्ञान निरर्थक है, वे विवेकहीन है, वे राक्षसों और असुरों जैसे मोहित करने वाले स्वभाव को धारण किये हुए हैं: १२

व्याख्या : राक्षसी स्वभाव का अर्थ है, तमोगुणी स्वभाव। आसुरी स्वभाव का अर्थ है रजोगुणी स्वभाव। तमोगुणी जन आलस्यवश ब्रह्म के रहस्य को नहीं समझते और रजोगुणी जन अहंकारवश होकर ब्रह्म तत्त्व को समझने में असमर्थ होते हैं। उनके कर्म, आशायें आदि मोह-माया में पडे रहने के कारण व्यर्थ होते हैं।

और दैवी स्वभाव के व्यक्ति

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता:।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।१३।

भावार्थ : हे पार्थ, दैवी स्वभावयुक्त महात्मा जन मुझे सभी प्राणियों का मूल जानते हैं और अविनाशी जानते है। वे अन्य सभी ओर से ध्यान हटाकर मेरी उपासना

करते हैं: १३

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रता:।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।१४।

भावार्थ : दृढ़ निश्चय वाले भक्तजन यत्नपूर्वक सदा मेरा निरंतर पूजन, नमन, कीर्तन और वंदन करते हैं: १४

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।१५।

भावार्थ : कई जन आत्मा-परमात्मा को एक समान मानकर, ज्ञान-यज्ञ द्वारा मेरी उपासना करते हैं। और कई लोग मेरे विराट स्वरूप के अन्य अंशों का पूजन करके मानो मेरी उपासना करते है: १५

सृष्टि में सर्वत्र ब्रह्म ही

अहं क्रतुरहं यज्ञ: स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।१६।

भावार्थ : मैं कर्मरूप हूं, मैं यज्ञरूप हूं, मैं आहुति रूप हूं, मैं औषधरूप हूं, मैं मंत्ररूप हूं, मैं घृतरूप हूं, मैं अग्निरूप हूं और इन सभी रूपों को स्वीकार करने वाली हवन रूपी क्रिया भी मैं हूं: १६

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि हवन भी मैं हूं। हवन में दी जाने वाली सामग्री भी मैं हूं। विश्व का कोई पदार्थ मुझसे भिन्न अस्तित्व नहीं रखता। इसी विषय को आगे बढाते हुए भगवान अगले श्लोक में कहते हैं :-

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामह:।
वेद्य पवित्रामोंकार ऋक्साम यजुरेव च।१७।

भावार्थ : मैं सारे जगत् का पिता, माता हूं, धारण करने वाला हूं पितामह हूं, जानने योग्य पवित्र ॐ हूं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद भी मैं हूं: १७

गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी निवास: शरणं सुहृत्।
प्रभव: प्रलय: स्थान निधानं बीजमव्ययम्।१८।

भावार्थ : मैं प्राप्त करने योग्य सद्गति हू, पोषणकर्ता हूं, सबका स्वामी हूं, शुभाशुभ का साक्षी हूं, सभी मुझमें समाये हुए हैं, मैं दाता हूं, शरणागतों का आश्रय हूं, हितैषी हूं। सृष्टिकर्ता और सृष्टि का नाशकर्ता हूं। मैं सबका आधार हूं। प्रलय काल में सबको संभालने वाला हूं, मैं ही उत्पन्न करने वाला अविनाशी बीज हूं: १८

तपाम्यहमहं वर्ष निगृह्णाम्युत्सुजामि च।
अमृतं चैव मुत्युश्रच सदसच्चाहमर्जुन।१९।

भावार्थ : हे अर्जुन, मैं ही सूर्य रूप में तपता हूं, मैं वर्षा करता हूं, मैं वर्षा को रोकता हूं, मैं ही अमृत हूं, सत् हूं, असत् हूं: १९

व्याख्या : सत् और असत् के विषय में, पहले कहा जा चुका है कि जिसकी सत्ता किसी अन्य पर निर्भर न हो वह सत् है। परम पुरुष चेतन तत्त्व सत् है। जिसका अस्तित्व अन्य पर निर्भर हो, वह असत् है। असत् को प्रकृति भी कहते हैं, माया भी कहते हैं। ये दोनों परमं ब्रह्म के ही अंश हैं। तात्पर्य यह है कि सृष्टि में जो कुछ भी हैं, वह ब्रह्म है।

कर्मकांडी जनों के विषय में

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक–
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभेगान्।२०।

भावार्थ : तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमरस का पान करने वाले, पापों से मुक्त जन, यज्ञों द्वारा मेरी पूजा करके स्वर्ग-प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं, वे पुनीत इंद्रलोक में पहुंचकर देवताओं के दिव्य भगों को भोगते हैं: २०

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।२१।

भावार्थ : विशाल स्वर्गलोक के उपभोग करने के उपरांत जब उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं, वे फिर मृत्युलोक में जन्मते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में बताये मार्ग पर चलने वाले कामनायुक्त व्यक्ति आवागमन के चक्र में रहते हैं: २१

व्याख्या : गीता में अनेक स्थानों पर विद्या या त्रैंविद्या या 'वेदत्रयी' कहा गया है, जिसका आशय कुछ विद्वान् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद लेते हैं, कुछ विद्वज्जन इसका आशय यह लेते हैं कि वेद एक है, उसकी संहितायें और शाखायें, प्रशाखायें अनेक हैं। वेद की चार संहितायें लोकप्रसिद्ध हैं: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों संहिताओं में प्रमुख रूप से तीन विद्याओं का समावेश है। ऋग्वेद में ज्ञान कांड का अधिक प्रतिनिधत्व है, यजुर्वेद में कर्मकांड का और सांमवेद में ललित कलाओं तथा अथर्ववेद में मिला-जुला।

भगवान कृष्ण के अवतार-काल में वेदों के नाम पर केवल कर्मकांडों का बोलबाला था। ज्ञानकांड का प्रचलन कम हो गया था। इसलिए भगवान ने उस समय वेद के नाम पर प्रचलित धारा का उल्लेख करके बताया है कि कर्मकांड द्वारा स्वर्ग की कामना करने वाले आवागमन के चक्कर से निकल नहीं पाते।

भक्तों के अनेक प्रकार

अनन्याश्चिन्तयन्तो माँ ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं, वहाम्यहम्।२२।

भावार्थ : एकमात्र मेरा चिंतन करते हुए जो जन मुझे भजते हैं, उन निष्काम योगियों के सांसारिक हानि-लाभ का भार मैं अपने ऊपर ले लेता हूं: २२

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।२३।
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।२४।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, जो श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं का पूजन करते हैं, वे परोक्ष रूप से मेरा ही पूजन करते हैं, किंतु उनका पूजन विधिपूर्वक नहीं है। वे नहीं जानते कि सभी यज्ञों का उपभोग करने वाला और सबका स्वामी मैं हू, इस अज्ञान के कारण वे पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं: २३, २४

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।२५।

भावार्थ : देवताओं की पूजा करने वाले देवलोक को जाते हैं, पितरों के पूजक पितरलोक को जाते है, अन्य पांचभौतिक प्राणियों के लिए प्रयत्न करने वाले उन्हीं प्राणियों को प्राप्त करते हैं। मेरा पूजन करने वाले मुझे पाते है: २५

निष्काम भक्ति ही प्रभु तक पहुंचने का राजमार्ग है

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्ता प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।२६।

भावार्थ : स्वच्छ चित्त के भक्त द्वारा भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल मझे अर्पित किया जाये, मैं उसे स्वीकार करता हूं: २६

व्याख्या : हर प्रकार के भक्त और उनकी पूजा-विधि के बताने के बाद भगवान ने अर्जुन को यह गुप्त राजविद्या बतायी है कि मुझ तक पहुंचने का मार्ग कर्मकांड का जटिल मार्ग नहीं, केवल आत्मसमर्पण का भाव चाहिए। भगवान के सामने इसका महत्त्व नहीं है कि क्या अर्पण किया जा रहा है, बल्कि महत्त्व इस बात का है कि किस प्रेम और किस भावना से अर्पित किया जा रहा है।

भगवान को भक्त और क्या-क्या अर्पित कर सकता है, यह बात भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।२७।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन में आहुति देता है, जो दान करता है, जो तप करता है, वह सब करते हुए यही भाव रख कि मुझे अर्पित कर रहा है: २७

व्याख्या : कर्मयोग के प्रसंग में भगवान ने कहा था, कर्म कर, कर्म का फल छोड़ दे। भक्ति के प्रसंग में उससे गहरी बात भगवान कर रहे हैं कि कर्मफल छोड़ने की बजाय सभी कर्मों का फल मुझे अर्पित कर।

तू सभी कार्यों को भगवान के कार्य समझ और खुद को भगवान का सेवक समझ और यह अनुभव कर कि मेरे द्वारा जितने काम होते हैं, वह सब भगवान कराता है। इस भाव से कर्म करने का फल भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।२८।

भावार्थ : ऐसा करने से तू कर्मों के शुभ-अशुभ फल से मुक्त हो जायेगा। कर्मों के फल का त्याग करके तू संन्यास योगी होकर मुझे आ मिलेगा: २८

प्रभु भक्ति की महिमा

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।२९।

भावार्थ : मैं सभी पांचभौतिक प्राणियों में समान रूप से व्याप्त हूं, न मुझे किसीसे प्रीति है, न किसीसे द्वेष है, वास्तव में जो जन मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझमें हैं, और मैं उनमें हूं: २९

व्याख्या : कई मूढ़ जन इस कथन में यह दोष निकालते हैं कि प्रभु सबके प्रति समभाव नहीं हैं, वे अपने भक्तों पर कृपा करते हैं और अन्य जनों पर कृपा नहीं करते हैं। वे अपने अहंकार के कारण भगवान के इस कथन के तात्पर्य को नहीं समझते हैं। भगवान किसीसे रागद्वेष नहीं रखते। जिसके मन में जितनी स्वच्छता होती है, उसके मन में प्रभु का प्रतिबिंब उतना ही स्पष्ट बनता है। सूर्य की किरणे, कीचड़ पर भी पड़ती हैं, काँच पर भी और ठहरे हुए स्वच्छु जल पर भी पड़ती हैं। कीचड़ पर पड़ी किरणें लौटकर प्रकाश नहीं बिखेरतीं। स्वच्छ जल की किरणें स्वच्छ दर्पण पर पड़ी किरणें प्रकाश बिखेरती हैं। जैसे सूर्य किसी पदार्थ से पक्षपात नहीं करता, वैसे ही भगवान किसीसे पक्षपात नहीं करते। भक्त की स्वच्छ चित्त की अवस्था ही उसे प्रभु के निकट लाती हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स:।३०।

भावार्थ : यदि कोई महादुराचारी व्यक्ति भी एकनिष्ठ होकर मेरा भजन करता है तो उसे सज्जन मानना चाहिए, क्योंकि उसने उत्तम निश्चय कर लिया है: ३०

व्याख्या : इस श्लोक में जिस दुराचारी के भजन की बात की है, उसकी एक शर्त भी बताई है कि यह प्रभु के प्रति एकनिष्ठा से भक्ति करने वाला हो। वह दिखावे के लिए या कामनाओं की पूर्ति के लिए भजन नहीं कर रहा हो। जो पहले दुराचारी रहा है, उसके सज्जन होने की संभावना है। उसका एकनिष्ठ भजन करना ही उसका प्रायश्चित है। कोई भी पाप हो, एकनिष्ठ भक्ति से वह धुल सकता हैं।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति।३१।

भावार्थ : ऐसा व्यक्ति शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और स्थायी शांति प्राप्त करता है। हे कुंतीपुत्र अर्जुन, तू निश्चयपूर्वक जान ले कि मेरे भक्त का कभी पतन नहीं होता: ३१
प्रभु की शरण में कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय:।
स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।३२।
किं पुनर्ब्राह्मणा: पुण्या भक्त राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।३३।

भावार्थ : हे पार्थ, जो भी व्यक्ति मेरी शरण में आ जाता है, वह चाहे, स्त्री हो, वैश्य हो, शूद्र हो या निम्न योनि में जन्म लेने वाला हो, उसे उत्तम गति प्राप्त होती है। फिर पुण्य कर्म करने वाले ब्राह्मण और निष्ठावान राजर्षियों का क्या कहना। इसलिए हे अर्जुन, इस क्षणभंगुर सुखरहित मानव शरीर में रहते हुए मेरा भजन कर: ३२, ३३

व्याख्या : इस श्लोक से ज्ञात होता है कि भगवान के अवतार-काल में ऊंच-नीच का भेद-भाव बहुत बढ़ गया था, शूद्रों के साथ-साथ स्त्रियां और वैश्य भी निम्न स्तर के माने जाने लगे थे। वेद पढ़ने का उनको अधिकार नहीं था। इसलिए उनको सद्गति देने के लिए भगवान ने उन्हें भक्ति का सरल मार्ग बताकर उनकी उत्तम गति की व्यवस्था की। इसके साथ यह भी बताया कि पुण्य कर्म करने वाले ब्राह्मण तथा ब्रह्मर्षियों का सा जीवन व्यतीत करने वाले क्षत्रिय भी इस भक्ति मार्ग द्वारा उत्तम गति प्राप्त कर संकते हैं। यहां उल्लेखनीय यह है कि भगवान ने केवल ब्राह्मण और केवल क्षत्रिय नहीं कहा बल्कि पुण्य कर्म करने वाला ब्राह्मण कहा है। क्षत्रिय की बजाय ऋषियों का सा जीवन व्यतीत

करने वाले राजर्षि कहा है।

मन्मना भव मद्भक्तों मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:।३४।

भावार्थ : तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर, मुझे प्रणाम कर, इस प्रकार तू अपनी आत्मा को मुझसे जोड़कर मुझमें लीन हो जायेगा: ३४

व्याख्या : यह वाणी श्रीकृष्ण के मुख से साक्षात् ब्रह्म की वाणी है और अर्जुन के माध्यम से भगवान ने सभी वर्णों के लिए कही है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्याय:॥९॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'राजविद्या राजगुह्म योग' नामक नवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

दसवां अध्याय

विभूतियोग

पिछले अध्यायों में भगवान अर्जुन को बताते रहे हैं कि सारी सृष्टि मेरा ही व्यक्त रूप है, किंतु अर्जुन भगवान के कथन से संतुष्ट नहीं हुआ। जो बात शब्दों द्वारा अर्जुन की समझ में नहीं आयी, उसे इस अध्याय में भगवान उदाहरण सहित समझाते है कि जहाँ जिस-जिस जीव में, जिस पदार्थ में श्रेष्ठत्व दिखाई देता है, वह मेरी अलौकिक शक्ति के कारण है, इसी अलौकिक शक्ति को गीता में विभूति कहा गया है।

भगवान अर्जुन को बताते है कि जो प्रकट रूप में दीखता है, लोग उसकी यथार्थ समझते हैं, जिसके कारण दीखता है, उसे भूल जाते है। भगवान इस अध्याय में अर्जुन को बताते है कि हर प्रत्यक्ष रूप के पीछे मैं हूं। हर पदार्थ, हर जीवन में मुझे देखो, हर विलक्षणता में मेरी विभूति को देखो। इसलिए इस अध्याय की पुष्पिका में इस अध्याय का विषय 'विभूतियोग' है।

पिछले अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान अपनी भक्ति के लिए अर्जुन को उन्मुख कर चुके हैं। इस अध्याय के आरभ में अपने कथन के प्रति अर्जुन की जिज्ञासा को बढ़ाते हुए कहते है:

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।१।

भावार्थ : भगवान बोले, हे महान् भुजाओं वाले अर्जुन, मेरे परम हितकरी वचन सुन, मैं तुझे यह सब इसलिए बता रहा हूं कि तू मेरा प्रिय है। तेरे हित की इच्छा से मैं तुझे कहुंगा: १

न मे विंदुः सुरगाणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।२।

भावार्थ : मेरी उत्पत्ति को न तो देवता जानते है, न महर्षि जानते हैं क्योंकि मैं सभी देवताओं, सभी महर्षियों का आदि कारण हूं: २

व्याख्या : आशय यह है कि देवता और महर्षि मेरे बाद उत्पन्न हुए, मेरे कारण से उत्पन्न हुए हैं, बाद वाले जन अपने से पहले वाले के विषय में कैसे जान सकते हैं?

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।३।

भावार्थ : जो मुझे अजन्मा, अनादि और सब लोकों का महेश्वर जानता है, वह भ्रम से रहित होकर सब पापों से मुक्त हो जाता है: ३

व्याख्या : भगवान जन्म नहीं लेते, किसी स्वरूप में प्रकट होते हैं, इसलिए भगवान को अनादि कहा जाता हैं, वे सभी लोकों के महान् ईश्वर हैं, इस बात को जो जान लेता है, वह ज्ञानी होता है। वह सब जगह भगवान को देखता है इसलिए उससे पापकर्म नहीं हो सकता। इसलिए भगवान ने उसे सब पापों से मुक्त कहा है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुख दुःखं भवोऽभावो भय चाभयमेव च।४।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।५।

भावार्थ : प्राणियों में भिन्न-भिन्न भाव मेरे कारण उत्पन्न होते हैं। वे भाव हैं–बुद्धि, ज्ञान, मोह का अभाव, क्षमा, सत्य, इंद्रियों का दमन, आंतरिक शांति, सुख-दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और अपयश: ४, ५

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मदभवा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।६।

भावार्थ : सप्त महर्षि, उनसे पहले के चार सनकादि तथा मनुगण, ये सब मेरे संकल्प से उपजे हैं और इन सबसे संसार के सभी प्राणी उपजे हैं: ६

व्याख्या : अनादि ब्रह्म से सृष्टि किस क्रम से उत्पन्न हुई, इसका विवरण भगवान इस श्लोक में दे रहे हैं। भगवान का आशय किन सप्त महर्षियों से है, उनके विषय में विद्वानों में मतभेद है। महाभारत में महर्षियों के नाम इस प्रकार है: मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ। शतपथब्राह्मण में सप्त महषियों के नाम इस प्रकार हैं: गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि। अधिकतर भाष्यकार महाभारत में वर्णित महर्षियों को मानवों का पूर्वज मानते हैं, अन्य महर्षियों को बाद का मानते हैं। इन सब महर्षियों के नाम पर गोत्र चल रहे हैं। ये महर्षि गृहस्थी थे।

चार सनकादि ब्रह्मा की वे सन्तानें हैं, जिन्होंने गृहस्थ जीवन नहीं निभाया, उनके नाम हैं: सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार। इनका वंश नहीं चला। ये चारों निवृत्तिमार्गियों के आदर्श हैं।

ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं, एक मनु के अधिकार काल को मन्वंतर कहते हैं। मनु अपने मन्वंतर काल में प्रजा का शासन चलाते हैं। इन दिनों वैवस्वत मनु का कार्यकाल चल रहा है।

इस श्लोक का आशय है कि संतानें उत्पन्न करने वाले गृहस्थी तथा गैर-गृहस्थी और शासनकर्ता, ये सभी प्रकार के आदि मानव मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं। ये सब मानव जाति के पूर्वज हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।७।

भावार्थ : मेरी अलौकिक शक्ति और योगशक्ति को जो भली-भांति जानता है, वह निःसंदेह भक्तियोग द्वारा मुझमें तल्लीन होता है: ७

व्याख्या : भली-भांति जानना क्या है, यह बात भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।८।

भावार्थ : मैं सारे जगत् की उत्पत्ति का कारण हूं, मेरे कारण सृष्टि में चेष्टा है, यह जानकर ज्ञानी जन मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं: ८

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।९।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।१०।

भावार्थ : जिनके मन और प्राण मुझमें लीन हैं, जो सत्संग में परस्पर मेरे विषय में चर्चा करके संतोष और आनंद पाते है, जो भक्तिपूर्वक मेरा प्रेम से निरंतर भजन करते हैं, मैं उन्हें ऐसी सुबुद्धि देता हूं, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं: ९, १०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।११।

भावार्थ : उन पर अनुग्रह करके मैं उनके अंतःकरण में स्थित होकर, ज्ञान के दीप द्वारा उनके अज्ञान के अंधकार को नष्ट कर देता हूं: ११

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।१२।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।१३।

भावार्थ : अर्जुन बोला, आप परम ब्रह्म हैं, परम धर्म हैं, सनातन दिव्य पुरुष है, आदि देव हैं, जन्मरहित हैं, सर्वव्यापक हैं, ऐसा देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास और सब ऋषि कहते हैं, आप स्वयं भी ऐसा ही मुझे कहते हैं: १२, १३

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।१४।

भावार्थ : हे केशव, आप जो कुछ मुझसे कहते हैं, मैं उसे सत्य मानता हूं। हे भगवन्, आपके लीलामय स्वरूप को न देवता जानते हैं, न दानव जानते हैं: १४

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।१५।

वक्तुमुर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।१६।

भावार्थ : हे पुरुषोत्तम, हे पांचभौतिक प्राणियों को उत्पन्न करने वाले, हे प्राणियों के ईश्वर, हे देवताओं के पूज्य, हे जगत् के स्वामी, आप स्वयं ही अपने आपको पूर्ण रूप से जानते है, इसलिए आप ही अपनी दिव्य विभूतियों को संपूर्णता से बताइए, जिन विभूतियों के कारण आप सभी लोकों में व्याप्त हैं: १५, १६

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।१७।

भावार्थ : हे योगेश्वर, मैं किस प्रकार निरंतर चिंतन करता हुआ जानूं कि मैं आपके किन-किन रूपों का, किन-किन आकारों का चिंतन-मनन करूं: १७

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।१८।

भावार्थ : हे जनार्दन, आप अपनी योगशक्ति और विभूति को विस्तारपूर्वक कहिए, क्योंकि आपकी अमृतवाणी सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती: १८

व्याख्या : जिस ब्रह्म को देवर्षि, महर्षि, देवगण पूर्ण रूप से नहीं समझ सके, वह ब्रह्म जो संपूर्ण विश्व में समा रहा है, या जिस ब्रह्म में सारा विश्व समाया हुआ हैं, इतने विशाल ब्रह्म की उपासना करने में अर्जुन को कठिनाई अनुभव हो रही है। इसलिए वह भगवान से कह रहा है, आप विशाल हैं, मेरी संकुचित दृष्टि आपकी विशालता को पूर्ण रूप से नहीं देख सकती, इसलिए उदाहरण के लिए मुझे अपने ऐसे स्वरूप के विषय में बताइए जो मेरी अल्प बुद्धि में समा सके।

भगवान द्वारा समाधान

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।१९।

भावार्थ : भगवान बोले, हे कुरुश्रेष्ठ, यद्यपि मेरे विस्तार का अंत नहीं है फिर भी मैं अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों को तुझसे कहता हूं: १९

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।२०।

भावार्थ : हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन, मैं सभी पांचभौतिक प्राणियों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूं। मैं सभी प्राणियों का आदि, मध्य और अंत हूं: २०

व्याख्या : हृदय में स्थित होने का तात्पर्य है सभी प्राणियों के केंद्र में हूं। सभी प्राणियों के आदि से आशय है, उनको उत्पन्न करने वाला, मध्य का अर्थ है, सबका पालन-पोषण करते वाला और अंत से आशय है, सबका संहार करने वाला। इस श्लोक में भगवान ने परोक्ष रूप से यह बता दिया है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा मेरा एक रूप है, पालनकर्ता विष्णु मेरा दूसरा रूप है और संहारकर्ता शिव मेरा तीसरा रूप हैं।

अगले श्लोकों में भगवान कुछ प्राणियों, कुछ दिव्य शक्तियों का उदाहरण देकर कहते हैं कि उनकी विशिष्टता का कारण मैं हूं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरूवामास्मि नक्षत्राणामहं शशी।२१।

भावार्थ : आदित्यों में मैं विष्णु हूं। मैं प्रकाश पुंजों में सूर्य हूं। मरुतों में मैं मरीचि नामक तेज हूं। नक्षत्रों में मैं चंद्रमा हूं: २१

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।२२।

भावार्थ : मैं वेदों में सामवेद हूं। मैं देवताओं में इंद्र हूं। मैं इंद्रियों में मन हूं। प्राणियों में मैं चेतना हूं: २२

व्याख्या : सामवेद में ललितगान द्वारा ब्रह्म के स्वरूपों की स्तुति की गयी है इसलिए भगवान ने सामवेद को विशेष स्थान दिया है। इंद्र देवताओं में सर्वोच्च हैं, भगवान बताते हैं कि इंद्र का इंद्रत्व परमब्रह्म के कारण से है। बिना मन के इंद्रियों को विषयों का रस नहीं मिलता इसलिए भगवान ने छठी इंद्रिय मन को सर्वोच्च स्थान दिया है। बिना चेतन तत्त्व के सभी प्राणी निर्जीव हैं, भगवान बता रहे हैं कि सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में मैं ही उनकी सजीवता का कारण हूं।

अगले श्लोकों में भगवान सभी जीवों तथा जड़ पदार्थो में से सर्वोच्च का उदाहरण

देते हुए बता रहे हैं कि उनकी सर्वोच्चता मेरे कारण से है।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरु: शिखरिणामहम्।२३।

भावार्थ : रुद्रों में मैं शंकर हूं। यक्ष तथा राक्षसों में मैं धन का स्वामी कुबेर हूं। वसुओं में मैं पवित्रकारी अग्नि हूं। पर्वतशिखरों में मैं सुमेरु पर्वत हूं: २३

पुरोधयां च मुख्य मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्द: सरसामस्मि सागर:।२४।

भावार्थ : हे पार्थ, पुरोहितों में मुख्य वृहस्पति मैं हूं। सेनापतियों में मैं कार्तिकेय हूं और जलाशयों में मैं समुद्र हूं: २४

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालय:।२५।

भावार्थ : महर्षियों में भृगु हूं। वाणियों में मैं एकाक्षर 'ॐ' हूं। यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूं और अचल पदार्थो में मैं हिमालय हूं: २५

अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारद:।
गन्धर्वाणां चित्ररथ: सिद्धानां कपिलो मुनि:।२६।

भावार्थ : सब वृक्षों में मैं पीपल हूं। देवर्षियों में मैं नारद हूं। गंधर्वगणों में मैं चित्ररथ हूं। सिद्धजनों में मैं कपिल मुनि हूं: २६

उच्चै:श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावत गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।२७।

भावार्थ : घोड़ों में मैं अमृत-मंथन के समय प्रकट होने वाला उच्चै: श्रवा नामक घोड़ा हूं। हाथियों में मैं श्रेष्ठ ऐरावत हाथी हूं। मनुष्यों में तू मुझे राजा जान: २७

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्प: सर्पणामस्मि वासुकि:।२८।

भावार्थ : शस्त्रों में मैं इंद्र का अमोघ अस्त्र वज्र हूं। गऊओं में मैं कामधेनु हूं। संतान-उत्पादकों में मैं कामदेव हूं और सर्पों में मैं वासुकि हूं: २८

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यस: संयमतामहम्।२९।

भावार्थ : नागों में मैं अनंत सिरों वाला शेषनाग हूं, जलचरों में मैं वरुण हूं, पितरों में मैं अर्यमा हूं और शासन करने वालों में मैं यम हूं: २९

व्याख्या : गीता के प्राचीन टीकाकार श्रीधर सर्प को विषधर और नाग को विषहीन कहते हैं। रामानुज ने सर्प को एक सिर वाला और नाग को अनेक सिर वाला कहते हैं।

शासनकर्ताओं में यम का नाम इसलिए उंचा हैं कि यम किसीका लिहाज नहीं करते। प्राणियों को उनके कर्मो के अनुसार दंड या पुरस्कार देते हैं इसलिए यमों के राजा को धर्मराज भी कहते हैं।

प्रहलादश्चास्मि दैत्यानां काल: कलयतामहम्।
मृगणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।३०।

भावार्थ : मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूं। गणना करने वालों में मैं समय हूं। पशुओं में मैं सिंह हूं, पक्षियों में गरुड़ हूं: ३०

पवन: पवतामस्मि राम: शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जह्नवी।३१।

भावार्थ : पवित्र करने वालों में मैं वायु हूं। शस्त्रधारियों में मैं राम हूं। मछलियों में मैं मगरमच्छ हूं और नदियों में मैं गंगा हूं: ३१

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वाद: प्रवदतामहम्।३२।

भावार्थ : हे अर्जुन, सृष्टि का आदि, मध्य और अंत मैं हूं। विद्याओं में आत्मतत्व को बताने वाली आध्यात्मिक विद्या मैं हूं। परस्पर तर्क करने वालों में उचित-अनुचित का निर्णय करने वाला 'वाद' मैं हूं: ३२

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्व: सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुख:।३३।

भावार्थ : मैं अक्षरों में 'अ' अक्षर हूं। समासों में मैं द्वंद्व समास हूं। अविनाशी काल मैं हूं और सभी ओर दृष्टि रखने वाला, सबका पोषण करने वाला विराट स्वरूप मैं हूं: ३३

व्याख्या : नवजात शिशु के मुख से निकलने वाला प्रथम स्वर 'अ' होता है। इसलिए सभी स्वरों में प्रथम अक्षर 'अ' मुख्य है। बिना 'अ' के सभी स्वर और व्यंजन अपूर्ण हैं। इ, उ, ओ, ये सभी 'अ' के रूपांतर हैं।

वाक्यों को संक्षिप्त करने के लिए व्याकरण में समास का प्रयोग होता है। चार प्रकार के समासों में द्वंद्व समास की यह श्रेष्ठता है कि इसके दोनों शब्दों के अर्थों में बराबर की प्रधानता होती है। इस समास की इसी विशेषता के कारण भगवान ने श्रेष्ठतम समास 'द्वंद्व' को अपना रूप बताया है।

संसार के सभी जीवों, पदार्थों का नाश होता है कितु मृत्यु अर्थात् काल अविनाशी है। भगवान भी अविनाशी हैं। इसलिए उन्होंने काल को भी अपना स्वरूप बताया है।

परमात्मा के सामने किसीका कर्म छिपा हुआ नहीं है, इसलिए भगवान ने स्वयं को सभी ओर दृष्टि रखने वाला कहा है।

मृत्यु: सर्वहरश्चाहमुद्भवश्चा भविष्यताम्।
कीर्ति: श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृति: क्षमा।३४।

भावार्थ : सबका संहार करने वाली मृत्यु मैं हूं। भविष्य में उत्पन्न होने वालों का उद्गम मैं हूं। स्त्रियों में लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धारणशक्ति और क्षमा मैं हूं: ३४

बृहत्साम तथा सास्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूयां कुसुमाकर:।३५।

भावार्थ : गायन करने योग्य स्तुतियों में बृहत्साम मैं हूं। वैदिक छंदों में गायत्री मैं हूं। मासों में मैं मार्गशीर्ष का महीना हूं और ऋतुओं में मैं बसंत हूं: ३५

द्धूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्ववतामहम्।३६।

भावार्थ : छलकपट करने वालों के लिए मैं जआ हूं। तेजस्वियों का तेज हूं। जीतने

वालों की विजय मैं हूं। निश्चय करने वालों का सँकल्प मैं हूं। सत्वगुण वालों का सात्विक भाव मैं हूं: ३६

व्याख्या : अच्छाई या बुराई में जो कुछ सर्वोच्च है उसमें भगवान अपना रूप बता रहे हैं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजय:।
मुनीनामप्यहं व्यास: कवीनामुशना कवि:।३७।

भावार्थ : वृष्णि वंशियों में मैं स्वयं वासुदेव हूं। पांडवों में अर्जन हूं। अर्थात् तुझमें अन्य पाँडवों से जो विशेषता है वह मेरे कारण से है। मुनियों में मैं व्यास हूं और कवियों में मैं शुक्राचार्य हूं: ३७

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।३८।

भावार्थ : दमन करने वालों की दमन शक्ति में हूं और विजय की अभिलाषा करने वालों में नीति मैं हूं। गोपनीय बातों को छिपाने की विद्या 'मौन' मैं हूं और ज्ञानियों के लिए ज्ञानतत्व मैं हूं: ३८

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने बड़े अद्‌भुत रहस्य खोले हैं। उदाहरणत: जिन्हें जीतना हो उन्हें वीरता के साथ नीति भी अपनानी चाहिए। कलियुग के उदारहण के अनुसार पृथ्वीराज चौहान नीतिनिपुण न होने के कारण हार गए। छत्रपति शिवाजी कम सेना के बावजूद नीतिनिपुणता के कारण जीत गए। और भगवान ने यह भी बताया है कि मौन वह बंद मुट्ठी है जिसके कारण गोपनीय बात सुरक्षित रह सकती है। वाचाल व्यक्ति रहस्य को छिपा नहीं सकता।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।३९।

भावार्थ : और हे अर्जुन, सब जड़-चेतन आदि का उत्पत्ति कारण मैं हूं। ऐसा कोई चर-अचर जीवन और पदार्थ नहीं है जिसका अस्तित्व मेरे बिना रह सके: ३९

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तुद्देशत: प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।४०।

भावार्थ : हे शत्रुतापी अर्जुन, मेरी विभूतियों का अंत नहीं है। यहां मैंने कुछ विभूतियों का संक्षेप में वर्णन किया है: ४०

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।४१।

भावार्थ : जहां-जहां तुझे विशेष ऐश्वर्य, शोभा तथा अलौकिक शक्ति दिखाई दे, तू उसे मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान: ४१

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।४२।

भावार्थ : हे अर्जुन, मेरी विभूतियों को अधिक जानने की तुझे आवश्यकता नहीं है। तू मात्र इतना समझ ले कि इस संपूर्ण जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त करके मैं स्थित हूं: ४२

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने बड़ी अनोखी बात कही है कि यह सारा जगत्

मेरा एक छोटा सा अंश है। मेरी विशालता इस जगत् से अधिक है।

इस अध्याय में भगवान ने बिना किसी भेदभाव के सृष्टि की सभी विशेषताओं को अपना रूप बताया है। उनमें से किसी वस्तु, भाव या जीवन को अच्छा या बुरा मानने का कारण हमारी संकुचित दृष्टि है। प्रभु के निकट कुछ भी अच्छा नहीं, कुछ भी बुरा नहीं। सभी के लिए समत्व भाव है। यही समत्व भाव जब आत्मा में आ जाता है तो वह सिद्ध हो जाता है। वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

इस अध्याय में भगवान ने अर्जुन को यह संदेशे भी दिया है कि संसार के हर पदार्थ, हर जीव, हर भाव में प्रभु का दर्शन कर और यह चेतावनी भी दी है कि अपनी उच्च स्थिति पर इतराना किसीके लिए उचित नहीं है क्योंकि वह उच्चता भगवान की दी हुई है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'विभूतियोग' नामक दसवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

ग्यारहवां अध्याय

विश्वरूप दर्शन योग

अर्जुन का मोहभंग करने के लिए भगवान पहले तो शब्दों द्वारा अपने ब्रह्मस्वरूप के विषय में बताते रहे हैं। जब अर्जुन शब्दों द्वारा उनका ब्रह्मस्वरूप न समझ सका तो दसवें अध्याय में भगवान ने अपनी विभूतियों के उदाहरण देकर उसे समझाया कि विश्व में जो विशेष उच्चता या विशेष निम्नता है वह मेरे कारण से है।

उच्चता या निम्नता का भेद हमारी बुद्धि में है, इसलिए हम अपनी बुद्धि के अनुसार प्रचलित शब्दों का सहारा ले रहे हैं। भगवान के निकट कोई उच्चता नहीं है, कोई निम्नता नहीं है, मात्र विशेषता है जिसके लिए गीता के दसवें अध्याय में 'विभूति' शब्द आया है।

ब्रह्म को इस प्रकार खंडों में बताने पर जब अर्जुन को ब्रह्म की विशालता का अनुमान न हो सका तो उसने समग्र ब्रह्म को एक नजर में दिखाने की भगवान से प्रार्थना की। भगवान ने अर्जुन की प्रार्थना स्वीकार करके उसे अपना विश्वरूप दिखाया।

भगवान की यह लीला एक कुशल मनोचिकित्सक की चिकित्सा जैसी है। मनोचिकित्सक पहले अपने रोगी का मनोविश्लेषण करता है। विश्लेषण-पद्धति जब प्रभाव नहीं करती तो चिकित्सक औषधियों का प्रयोग करता है। जब औषधयां व्यर्थ हो जाती हैं तो अंत में बिजली के झटके से वह अपने रोगी को ठीक करता है।

भगवान का अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाना अर्जुन के लिए बिजली के झटके जैसा है। इस विश्व रूप दर्शन से अर्जुन को ज्ञान हो जाता है कि अपने जिस सखा को उसने सामान्य मानव समझा था वे वास्तव में मानव शरीर में साक्षात् ब्रह्म हैं।

इस अध्याय का मुख्य विषय विश्व रूप दर्शन है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में प्रभुभक्ति की अनुपम स्तुतियां भी हैं।

इस अध्याय का आरंभ अर्जुन के इस कथन से होता है:

विश्वरूप दर्शन की कामना

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।१।

भावार्थ : अर्जुन ने कहा, मुझ पर कृपा करके आपने अध्यात्म विषयक जो गोपनीय वचन कहा है, उससे मेरा अज्ञान दूर हो गया है: १

व्याख्या : अर्जुन का अज्ञान यह था कि संसार की सभी वस्तुयें और सभी प्राणी स्वयं अपने आपको संभाले हुए हैं। भगवान की विभूतियां जानकर उसे यह ज्ञात हो गया कि बिना परमात्मा के किसी प्राणी, किसी वस्तु, किसी भाव का कोई अस्तित्व नहीं है। अर्जुन का यह तात्पर्य अगले श्लोक से व्यक्त हो रहा है:

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष महात्म्यमपि चाव्ययम्।२।

भावार्थ : हे कमलनयन, मैंने आपके मुख से सभी जड़ पदार्थों और चेतन जीवों की उत्पत्ति और विनाश के विषय में विस्तार से सुना हे और आपकी कभी नाश न होने वाली महिमा भी सुनी है: २

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।३।

भावार्थ : हे परमेश्वर, आपने अपने ईश्वरीय रूप के विषय में जैसा कहा है, हे पुरुषोत्तम मैं उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूं: ३

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।४।

भावार्थ : हे प्रभो, हे योगेश्वर, यदि आपका वह रूप मेरे द्वारा देखा जाना संभव है तो मुझे अपने अविनाशी स्वरूप का दर्शन कराइए: ४

अर्जुन को दिव्य चक्षुओं का दान

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश:।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।५।

भावार्थ : भगवान बोलें, हे पार्थ, मेरे अनेक प्रकार के रंगों और आकृतियोंवाले हजारों दिव्य रूपों को तू देख: ५

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।६।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, तू मुझमें आदित्यों, वसुओं, अश्विनीकुमारों मरुद्गणों और बहुत से ऐसे आश्चर्यों को देख जो पहले कभी नहीं देखे गये: ६

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान ने तैंतीस कोटि के देवताओं की उपस्थिति अपने में बतायी है। उनमें आदित्य बारह हैं, वसु आठ हैं, रुद्र ग्यारह और अश्विनीकुमार दो हैं। कुल मिलाकर ये तैंतीस बनते हैं। मरुद्गण तैंतीस कोटियों से अलग हैं।

सामान्यत: लोग तैंतीस कोटि देवता का अर्थ तैंतीस करोड़ देवता लेते हैं। 'कोटि' शब्द का एक अर्थ करोड़ की संख्या है। इस शब्द के अन्य अर्थ 'वर्ग', 'दर्जा' या 'श्रेणी' भी हैं। प्रतीत होता है कि वरीयता क्रम (Protocol) के अनुसार देवताओं के तैंतीस वर्ग हैं। कुछ प्राचीन ग्रंथ आदित्यों को ऊंचा मानते हैं। कुछ वसुओं को ऊचा मानते हैं। कुछ ग्रंथ अश्विनीकुमारों को तैंतीस कोटियों में नहीं मानते। बल्कि इंद्र और प्रजापति को मिलाकर तैंतीस वर्ग बताते हैं। किंतु अधिकतर विद्वानों की मान्यता यह है कि इंद्र सभी देवताओं के राजा हैं और प्रजापति सारी सृष्टि के पिता हैं। अत: वे इन तैंतीस कोटियों से ऊपर हैं।

दसवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में भगवान ने आदित्यों में विष्णु स्वयं को कहा है, तेईसवें, श्लोक में रुद्रों में शंकर स्वयं को माना है। इससे प्रतीत होता है कि आदित्य रुद्र आदि कोटियों में भी उपकोटियां रही हैं जिनमें विष्णु और शंकर सर्वोच्च हैं।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।७।

भावार्थ : हे इंद्रियों को जीतने वाले अर्जुन, तू मेरे शरीर में एक ही स्थान पर सारी चल और अचल सृष्टि को देख और जो कुछ देखना चाहता है देख: ७

न तु मां शक्यसे दृष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षु: पश्य मे योगमैश्वरम्।८।

भावार्थ : तेरे इन नेत्रों द्वारा मेरे विश्वरूप का देखा जाना तेरे लिए संभव नहीं है इसलिए मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूं। इन चक्षुओं से तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख: ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरि:।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।९।

भावार्थ : संजय धृतराष्ट्र से बोला: हे राजन, इतना कहकर महायोगेश्वर हरि ने अपना परम ईश्वरीय रूप अर्जुन को दिखाया: ९.

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।१०।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।११।

भावार्थ : उस ईश्वरीय रूप ने दिव्य मालायें धारण की हुई थीं। दिव्य अस्त्र धारण किये हुए थे। उस दिव्य रूप पर दिव्य गंधों का लेप लगा हुआ था। उस विश्वरूप के सभी ओर मुख और नेत्र थे। वह दिव्य रूप आश्चर्य से चकित करने वाला था और वह रूप सीमा से रहित था: १०, ११

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भा: सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन:।१२।

भावार्थ : यदि आकाश में एक साथ सहस्रों सूर्यों का प्रकाश फूट पड़े तो संभव है वह प्रकाश उस विराट् रूप के शरीर की प्रभा के समान हो सके: १२

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।१३।

भावार्थ : उस समय पांडुपुत्र अर्जुन ने देवों के भी देव के शरीर में अनेक प्रकार से विभाजित हुए संपूर्ण जगत् को एक साथ देखा: १३

अर्जुन का चकित भाव

तत: स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजय:।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।१४।

भावार्थ : आश्चर्य से रोमांचित हुआ धनंजय अर्जुन विश्वरूप देव के प्रति सिर झुकाकर हाथ जोड़कर, प्रणाम करके बोला: १४

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।१५।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे देव मैं आपकी देह में सभी देवताओं को, अनेक प्रकार के प्राणियों को, कमलासन पर बैठे प्रजाओं के ईश ब्रह्म को, ऋषियों और दिव्य सर्पों को देखता हूं: १५

व्याख्या : आकाश अथवा स्वर्ग लोक में देव श्रेष्ठ हैं। मर्त्यलोक अर्थात् पृथ्वी पर

ऋषिगण श्रेष्ठ हैं और पाताल में सर्पों का निवास है, उनमें वासुकि श्रेष्ठ है। इस प्रकार अर्जुन ने विराट् रूप में तीनों लोकों के सभी श्रेष्ठ वर्गों को देखा और कहा:

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विशेश्वर विश्वरूप।१६।

भावार्थ : हे संपूर्ण विश्व के स्वामी, मैं आपकी अनेक भुजायें, अनेक उदर, अनके मुख, अनेक नेत्र और अनंत रूप देखता हूं। हे विश्वरूप, आपका आदि, मध्य और अंत मुझे कहीं दिखाई नहीं देता है: १६

किरीटिंन गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।१७।

भावार्थ : मैं आपको मुकुट, गदा और चक्र धारण किये देखता हूं। आपका अपार अमित तेज अग्नि तथा सूर्य के समान है। इस तेज से मेरी आंखें चौंधिया रही हैं: १७

त्वमक्षरं परमं बेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्यय: शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।१८।

भावार्थ : मेरे विचार के अनुसार आप ही जानने के योग्य हैं। आप ही अक्षर ब्रह्म हैं। आपे ही विनाशरहित सनातन पुरुष हैं। आप ही जगत् केआश्रयदाता हैं। धर्म के रक्षक हैं: १८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।१९।

भावार्थ : आपका न आदि है, न मध्य है, न ही अंत है। आपमें असीम सामर्थ्य है। आपकी असंख्य भुजायें हैं। सूर्य, चंद्र आपके नेत्र हैं। आपका मुख प्रज्वलित अग्नि जैसा तेजस्वी है। आपके तेज से सारा विश्व तप रहा हे: १९

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वा:।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।२०।

भावार्थ : हे महान् आत्मा, आकाश और पृथ्वी के मध्य के अंतराल में आप व्याप्त हैं। और सब दिशायें आपसे परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत् और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं: २०

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीता प्राञ्जलयो गृणन्ति।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।२१।

भावार्थ : देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं। कई भयभीत होकर हाथ जोड़कर आपका गुणगान कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समुदाय स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं और कल्याण की कामना करते हैं: २१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।२२।

भावार्थ : रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य गण, विश्वेदेव, अश्विनी कुमार, मरुद्गण, पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय, ये सब आपको चकित होकर देख रहे हैं: २२

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।२३

भावार्थ : हे महान् भुजाओं वाले, आपका आकार विशाल है। आपके अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक भुजायें, अनके जंघायें, अनेक चरण और अनेक उदर हैं, आपके दांत विकराल हैं। इन सबको देखकर मैं और सभी लोक व्याकुल हो रहे हैं: २३

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शम च विष्णो।२४।

भावार्थ : हे विष्णो, आकाश को छूते हुए अनेक रंगों से जगमगाते हुए बड़े तेजस्वी नेत्रों तथा खुले हुए मुखों वाले आपके स्वरूप को देखकर मेरा अंतःकरण भयभीत हो रहा है और मैं धीरज और शांति नहीं पा रहा हूं: २४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।२५।

भावार्थ : आपका विशाल दाढ़ों वाला मुख प्रलय काल की अग्नि के समान है। इसे देखकर मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं हो रहा है, न ही मुझे शांति मिल रही है। हे देवों के ईश, हे जगत् के आश्रय, आप प्रसन्न होवें: २५

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।२६।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।२७।

भावार्थ : धृतराष्ट्र के सब पुत्र, राजाओं के समुदाय, भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के मुख्य योद्धा भी बड़े वेग से आपके भयानक और विकराल दाढ़ों वाले मुख में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कइयों के सिर आपके दांतों में पिसकर चूर-चूर होकर दांतों में चिपके हुए हैं: २६, २७

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।२८।

भावार्थ : जिस प्रकार नदियों की प्रचंड धारायें समुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार शूरवीर मनुष्यों के समूह आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश करते हैं: २८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगः
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।२९।

भावार्थ : जैसे पतंगे नष्ट होने के लिए धधकती लौ में बड़े वेग से प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी नष्ट होने के लिए आपके मुखों में बड़े वेग से प्रवेश करते हैं: २९

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्यमग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्यो।३०।

भावार्थ : हे विष्णो, आप सभी लोकों को अपने जलते हुए मुखों द्वारा चाट रहे हैं, निगल रहे हैं। आपका उग्र तेज संपूर्ण जगत् को तपा रहा है: ३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तुः ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।३१।

भावार्थ : हे देव, आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न हो जाइए और मुझे बताइए कि आप अति उग्र रूप वाले कौन हैं। मैं आपकी प्रवृत्ति को नहींजानता हूं। हे आदि पुरुष, मैं आपको यथार्थ में जानना चाहता हूं: ३१

व्याख्या : अर्जुन भय के मारे यह भूल गया है कि यह विश्वदेव स्वयं श्रीकृष्ण हैं। उनकी प्रवृति से आशय यह जानना है कि वे क्यों मेरे पक्ष के और कौरव पक्ष के वीरों का संहार कर रहे हैं? यह सब कुछ मुझे दिखाने का उनका क्या प्रयोजन है?

श्रीकृष्ण का अर्जुन को विश्वरूप दिखाने का प्रयोजन यह है कि अर्जुन भलीभांति जान ले कि विश्व में सब कुछ मनोरम नहीं है। इसमें भयानकता भी है। सत्य के सुंदर और असुंदर सभी पक्षों के साक्षात्कार के बाद मनुष्य संपूर्ण होता है। सृष्टि-संहार,

सौम्यता-उग्रता, सभी ब्रह्म के विविध पक्ष हैं। ब्रह्म के समक्ष शुभता और अशुभता का कोई भेद नहीं होता, जो भी है सब आवश्यक है। माली को वर्षा प्रिय है, कुम्हार को धूप प्रिय है। धूप न हो तो बादल कैसे बनें? बादल न हों तो वर्षा कैसे हो? संहार के बिना नवीन सृष्टि कैसे संभव है? अपने विश्वरूप द्वारा भगवान अर्जुन को कटु सत्य का दर्शन करा रहे हैं।

गीता के चौथे अध्याय के सातवें और आठवें श्लोक में भगवान अर्जुन को कह चुके हैं कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं सतजनों का उद्धार करने के लिए तथा पापी जनों का विनाश करने के लिए प्रकट होता हूं। कुरुक्षेत्र का यह युद्ध इसी उद्देश्य की पूर्ति का बहाना बना है। पाप का घड़ा भर चुका है, इस घड़े के फूटने के लिए यह युद्ध एक अवसर है।

अर्जुन को युद्ध सें पलायन न करने देने तथा उसका मोह भंग करने के लिए भगवान अब तक अर्जुन की मौखिक चिकित्सा करते रहे हैं, भगवान का उसे विश्वरूप दिखाना एक प्रकार से अर्जुन की शल्य-चिकित्सा है। जब तर्क काम नहीं देता तो आदेश की आवश्यकता होती है। भगवान के अगले वचन अर्जुन के लिए आदेश हैं:

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।३२।

भावार्थ : भगवान बोले, मैं लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूं। लोकों का संहार करने के लिए मैं प्रकट हुआ हूं। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो भी सेनाओं में खड़े ये योद्धा गण जीवित नहीं रहेंगें: ३२

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।३३।

भावार्थ : इसलिए तू खड़ा हो। शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त कर और धनधान्य से संपन्न राज्य के सुखों को भोग। हे सव्यसाची अर्जुन, मैंने इन सबको पहले से मार रखा है, तू केवल निमित्त बन: ३३

व्याख्या : गीता में 'निमित्त' शब्द का अर्थ बड़ा गंभीर है। निमित्त का सामान्य अर्थ हैं—बहाना, कारण। यहां निमित्त का अर्थ है—भगवान का उपकरण। भगवान कह रहे हैं कि दुष्ट जनों के संहार के लिए मैं अवतार धारण कर चुका हूं। अपने-अपने दुष्कर्मों के कारण ये योद्धाजन विनाश के मार्ग की ओर बढ़ चुके हैं। उनकी मृत्यु मैंने निश्चित कर दी है। इनकी मृत्यु को रोकना तेरे बस की बात नहीं है। तू इन्हें मारने का मात्र एक उपकरण है, एक बहाना है, एक निमित्त है। मारने वाला मैं हूं।

यदि तू इन्हें नहीं मारेगा तो मेरे किसी अन्य उपकरण द्वारा ये मारे जायेंगे। क्योंकि पापी को वास्तव में उसका पाप मारता है। जिस हाथ से वह मारा जाता है, वह भगवान का हाथ होता है। यदि तू इन्हें मारेगा तो तुझे यश मिलेगा, राज्य-सुख मिलेगा।

इस श्लोक में भगवान ने अर्जुन को सव्यसाची कहा है। सव्यसाची का अर्थ है जो

बायें हाथ से भी वाण चला सकता हो। इसी विषय कों आगे बढ़ाते हुए भगवान कहते हैं:

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्। ३४।

भावार्थ : द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य योद्धा मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। उन्हें मारकर तू दुखी मत हो, तू युद्ध कर, संग्राम में तू शत्रुओं को जीतेगा: ३४

अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमान: किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीत: प्रणम्य। ३५।

भावार्थ : संजय धृतराष्ट्र से बोला: भगवान केशव के ये वचन सुनकर मुकुटधारी अर्जुन भयभीत होकर कांपता हुआ भगवान के प्रति हाथ जोड़कर नमस्कार करने लगा और अवरुद्ध कंठ से बोला: ३५

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरत्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घा:। ३६।

भावार्थ : हे हृषिकेश श्रीकृष्ण, आपके गुणों का कीर्तन करके सारा जगत् प्रसन्न और प्रेम से मग्न हो रहा है, जो कि उचित है। राक्षस भयभीत होकर दिशाओं की ओर भाग रहे हैं और सिद्धजनों के समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं: ३६

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्। ३७।

भावार्थ : हे महान् आत्मा, वे आपका क्यों न नमन करें? आप आदिकर्ता ब्रह्म से भी बड़े हैं। आप अनंत हैं। देवताओं के भी ईश हैं। जगत् के आश्रय हैं। आप सत् और असत् से भी श्रेष्ठ अक्षर अविनाशी हैं: ३७

व्याख्या : 'सत्' शब्द ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा के लिए आया है। असत् प्रकृति तथा जड़ पदार्थो के लिए है। इन दोनों से श्रेष्ठ वह ब्रह्म है जो अक्षर है, जिसमें कोई घटा-बढ़ी नहीं होती।

त्वमादिदेव: पुरुष: पुराण–
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि बेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप। ३८।

भावार्थ : हे अनंत रूप, आप आदि देव हैं, सनातन पुरुष हैं, आप इस विश्व के आश्रयदाता हैं। आप जानने योग्य भी हैं और जानने वाले भी हैं। आप परमधाम हैं, यह सारा जगत् आपसे व्याप्त है: ३८

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण: शशांक:
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व:
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।३९।

भावार्थ : आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र और प्रजापति हैं। बल्कि प्रजापति के जो पिता ब्रह्मा हैं, उनके भी पिता हैं, आपको हजारों बार नमस्कार है, पुन:-पुन: नमस्कार है: ३९

नम: पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:।४०।

भावार्थ : हे सर्वरूप, आपके सामर्थ्य की सीमा नहीं है। आप सारे जगत् को व्याप्त किये हुए हैं, आपका पराक्रम अनंत है, इसलिए आपको आगे की ओर से भी: नमस्कार है, पीछे की ओर से भी नमस्कार है, सब ओर से नमस्कार है: ४०

अर्जुन की क्षमा याचना

सखेति मत्वा प्रसभं युदक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।४१।

भावार्थ : मैंने आपकी महिमा को समझे बिना आपको अपना सखा मानकर हे कृष्ण, हे यादव, हे मित्र कहा है। यह सब स्नेह के कारण, असावधानी के कारण मुझसे हुआ है: ४१

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
बिहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।४२।

भावार्थ : हे अच्युत, हे असीम, मैंने कभी हास-परिहास में, मनोरंजन करते समय, शय्या पर विश्राम करते समय, बैठते समय, भोजन करते समय, अकेले में तथा अन्य जनों के सामने यदि आपका तिरस्कार किया हो, उसके लिए मैं आपसे क्षमा मांगता हूं: ४२

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक: कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।४३।

भावार्थ : हे अतिशय प्रभाव वाले, आप इस चराचर जगत् के पिता हैं, पूज्य हैं,

गुरु हैं और उनसे भी बढ़कर हैं। तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है, फिर भला आपसे बढ़कर कौन हो सकता है: ४३

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीडच्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।४४।

भावार्थ : इसलिए आप स्तुतियोग्य ईश्वर के चरणों में सिर झुकाकर मैं प्रणाम करता हूं और आपसे प्रार्थना करता हूं कि हे देव, जिस प्रकार पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, प्रेमी प्रियतमा के व्यवहारों को सहन करता है, वैसे ही आप मेरे व्यवहार को सहन करें: ४४

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।४५।

भावार्थ : इससे पहले मैंने आपका यह विश्वरूप कभी नहीं देखा। इसे देखकर मैं प्रसन्न भी हुआ हूं और भय से व्यथित भी हुआ हूं। इसलिए हे देव, देवों के देव हे जगन्निवास, मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे अपना देव रूप दिखाइए: ४५

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त–
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।४६।

भावार्थ : हे विश्वरूप, मैं आपको मुकुट धारण किये हुए, हाथों में गदा और चक्र लिये हुए देखना चाहता हूं। हे सहस्र भुजाओं वाले, आप चतुर्भुज रूप में प्रकट होइए: ४६

व्याख्या : इस अध्याय के दसवें श्लोक से भगवान के विश्वरूप का वर्णन आरंभहोता है। इस परम ईश्वरीय रूप के आभूषण, शस्त्र, गंधादि, सब दिव्य थे, अर्थात् वे सब वस्तुयें अर्जुन ने इस लोक में कभी नहीं देखी थीं। इन सबको दिव्य दृष्टि द्वारा देखा जाना संभव हुआ।

प्रश्न यह उठता है कि वे दिव्य चक्षु क्या थे? इनके विषय में अनेक मत हैं। स्वामी विद्यानंद विदेह ने अपनी पुस्तक 'गीता योग' में लिखा है कि दिव्य चक्षु भगवान की सम्मोहन शक्ति थी।

डा. राधकृष्णन दिव्य दृष्टि को आध्यात्मिक अनुभव मानते थे। उनके कथनानुसार जब हम अपनी ज्ञान-क्षमता का पूरा विकास कर लेते हैं तो अतीत और भविष्य हमारे लिए वर्तमान जैसा हो जाता है।

स्वामी चिन्मयानंद ने दिव्य दृष्टि को बौद्धिक ज्ञान कहा है। उनके मतानुसार जब दिशा और काल की सीमायें टूट जाती हैं तो सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है।

श्री जयदयाल गोयंदका ने गीता पर अपनी तत्त्व-विवेचनी टीका में कहा है कि अर्जुन ने जो कुछ देखा, वह सब कुछ अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष था, तभी तो वह कभी

भयभीत हुआ, कभी गद्‌गद हुआ।

स्मरण रहै कि गीता का यह सारा वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाया है। जो कुछ अर्जुन देखता रहा है, वह सब कुछ देखने की दिव्य दृष्टि संजय को व्यास जी ने दी थी। यह दिव्य दृष्टि क्या थी, उस विषय से हम अटकलें ही लगा सकते हैं किंतु विश्वरूप दर्शन तथा दिव्य दृष्टि के विषय में भगवान ने जो कुछ अर्जुन को बताया है, वह अगले श्लोक से प्रकट है:

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।४७।

भावार्थ : भगवान बोले, हे अर्जुन, तुझ पर प्रसन्न होकर मैंने अपने योगबल से तुझे अपना अनंत और सबसे आदि का विराट रूप दिखाया है। मेरा यह परम तेजस्वी रूप इससे पहले किसीने नहीं देखा: ४७

व्याख्या : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि दिव्य दृष्टि भगवान की योगशक्ति थी जो भगवान ने अर्जुन में संचारित की थी। संभवत: वही योगशक्ति व्यासजी ने संजय में संचारित की थी। भगवान के वचन जारी हैं।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दाने–
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रै:।
एवंरूप: शक्य अहं नृलोके
द्रष्ट त्वदन्येन कुरुप्रवीर।४८।

भावार्थ : हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, मेरा जो रूप तूने देखा है, उसे मनुष्य लोक में तेरे अतिरिक्त न तो वेदों का अध्ययन करके देखना संभव है, न दान करके, न कर्मकांड करके, न ही भीषण तपस्या करके इसे देखा जा सकता है: ४८

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभी: प्रीतमना: पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।४९।

भावार्थ : मेरे इस भयानक रूप को देखकर तू व्याकुल मत हो, भ्रम में मत पड़, भयरहित होकर प्रसन्न चित्त से तू मेरे पूर्व रूप को देख: ४९

संजच उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं, दर्शयामास भूय:।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुन: सौम्यवपुर्महात्मा।५०।

भावार्थ : संजय बोला: वासुदेव महात्मा कृष्ण ने अर्जुन को ऐसा कह कर अपना सौम्य रूप दिखाया और भयभीत अर्जुन को धीरज बंधाया: ५०

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्य जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।५१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे जनार्दन, आपका सौम्य मनुष्य रूप देखकर मेरा चित्त ठिकाने आ गया है और मैं सामान्य स्थिति में आ गया हूं: ५१

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षणः।५२।

भावार्थ : श्री भगवान बोले, तूने मेरे जिस रूप को देखा है वह अति दुर्लभ है, देवतागण भी मेरे इस स्वरूप के दर्शन की सदैव इच्छा करते हैं: ५२

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।५३।

भावार्थ : वेद पढ़कर, तप, दान या या यज्ञ करके भी मेरा यह रूप देवना संभव नहीं है, जो तूने देखा है: ५३

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
जातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।५४।

भावार्थ : हे शत्रुतापी अर्जुन, मेरा यह रूप देखने के लिए मेरे प्रति एकनिष्ठ भक्ति चाहिए। मुझे यथार्थ रूप से देखने की जिज्ञासा चाहिए और मुझमें समा जाने योग्य समर्पण चाहिए: ५४

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।५५।

भावार्थ : हे पांडुपुत्र अर्जुन, जो कार्य करते समय ऐसा समझे कि मैं करा रहा हूं, जिसके लिए मैं सर्वश्रेष्ठ हूं, जो सांसारिक पदार्थों और जीवों के प्रति न तो आसक्ति रखता है, न ही द्वेष भाव रखता है, ऐसा अनन्य भक्त मुझे पा लेता है: ५५

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥११॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'विश्वरूप दर्शन योग' नामक ग्यारहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

बारहवां अध्याय

भक्तियोग

छठे अध्याय के अंतिम भाग से लेकर भगवान अर्जुन को भक्ति के लाभ बताते आ रहे हैं। ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को विराट रूप का दर्शन कराकर मानो उसको भक्ति का प्रसाद भी दे दिया हैं किंतु अर्जुन है कि उसके प्रश्नों की लड़ी टूटने में नहीं आ रही। वह कभी यह पूछता है कि कर्मयोग अच्छा है या ज्ञानयोग अच्छा है? कर्मयोगी से संन्यासी क्यों न बना जाये? भगवान उसके सभी प्रश्नों का शांत चित्त से उत्तर देते आ रहे हैं। भक्ति का माहात्म्य सुनने के बाद अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा उपजती है कि साकार ईश्वर की भक्ति अधिक फलदायक है या निराकार ब्रह्म की सिद्धिदायी है। अर्जुन के समक्ष साकार रूप में भगवान श्रीकृष्ण हैं और निराकर अव्यक्त अरूप ब्रह्म पूरी सृष्टि को व्याप्त किये हुए है। साकार या निराकार उपासना उस अध्याय का मुख्य विषय है।

अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान एकाएक करना कठिन है क्योंकि हर व्यक्ति के मोक्ष का मार्ग उसके स्वभाव के अनुसार निश्चित होता है। इसलिए छोटे से प्रश्न का उत्तर लंबा हो जाता है। इस अध्याय का आरभ अर्जुन के प्रश्न से होता है:—

साकार, निराकार उपासना का विषय

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा:।१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, जो भक्त जन आपके रूप आकार में लीन होकर आपकी सदैव उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अर्थात् निराकार अविनाशी ब्रह्म की उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकार के योगियों में उत्तम कौन है: १

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्यमनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता:।२।

भावार्थ : भगवान बोले, जो जन मन में मुझको स्थिर करके श्रद्धापूर्वक निरंतर मेरी उपासना करते हैं, मेरे मत के अनुसार वे अन्य योगियों से अधिक श्रेष्ठ हैं: २

व्याख्या : यहां भगवान ने इस बात पर जोर दिया है कि साकार इष्ट की उपासना करते समय मन को अपने इष्ट में स्थिर रखना चाहिए और इष्ट के प्रति मन में श्रद्धा होनी चाहिए। इष्ट की उपासना निंरतर करनी चाहिए। बिना श्रद्धा के किसी आकार के सामने हाथ जोड़ने से फल प्राप्त नहीं होता।

साकार उपासना के पक्ष में अपना मत प्रकट करने के उपरांत भगवान अन्य प्रकार की उपासना को नकारते नहीं हैं। अगले श्लोंकों में वे निराकार उपासना की विधि बताते हैं:

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।३।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय:।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:।४।

भावार्थ : जो व्यक्ति इंद्रियों को अपने अधीन करके, सभी प्राणियों के कल्याण में लगकर उस सर्वव्यापी अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करते हैं, जो अविनाशी है, दृढ़ है, अचल है, अटल है, स्थिर है, साथ ही अप्रत्यक्ष होने के कारण मन बुद्धि की सीमा से परे है, उस निराकार की उपासना करके वे मुझे पाते हैं: ३, ४

व्याख्या : प्राणियों का कल्याण करना, मन और इंद्रियों पर संयम रखना भी ईश्वर की उपासना करने जैसा है। इसका फल भी प्रभु में लीन होना अर्थात् मोक्ष पाना है। निराकार उपासना अंतर्मुखी जनों द्वारा संभव है।

बहिर्मुखी जनों के लिए साकार उपासना सरल है। क्योंकि साकार उपासना में अपने इष्ट के रूप को निहारने, उसे पुष्प अर्पित करने, रसना द्वारा उसके प्रसाद का रस ग्रहण करने, जिह्वा द्वारा उसका कीर्तन करने, कानों द्वारा कीर्तन श्रवण करने और त्वचा द्वारा उसे स्पर्श करने का पूरा अवसर मिलता है। बहिर्मुखी व्यक्ति को अपने शरीर से बाहर टिकने का आधार मिलने से उसके लिए साकार उपासना सरस और सरल हो जाती है, इसके विपरीत, निराकार उपासना में, भगवान की अपनी वाणी से सुनिए:

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवदिभरवाप्यते।५।

भावार्थ : जिनका चित्त अप्रत्यक्ष अर्थात् निराकार में लगा है, उन्हेंसाधना में श्रम करना पड़ता है, क्योंकि देहधारियों के लिए अव्यक्त अर्थात् निराकार की उपासना कष्टकर होती है: ५

व्याख्या : यहां भगवान ने निराकार इष्ट की उपासना का दर्जा साकार इष्ट की उपासना से कम नहीं बताया बल्कि अर्जुन जैसे कर्मयोगियों के लिए कठिन बताया है।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर अपने गीता भाष्य में कहते हैं कि सगुण या साकार उपासना का अर्थ मूर्तिपूजा नहीं हैं बल्कि भगवान की विभूतियों की उपासना करना है, जिनका विवरण दसवें अध्याय में हुआ है, अथवा ब्रह्म के विश्वरूप की उपासना है, जिसका वर्णन ग्यारहवें अध्याय में हुआ है। इस विश्वरूप की उपासना का अर्थ प्राणियों की सेवा करना है।

इस विषय में हमारा मत इस प्रकार है: व्यापक ब्रह्म, जिसमें सूर्य, चांद, सितारे, कीट, पतंग, प्राणी, वनस्पतियां सभी समाई हुई हैं, उनकी पूजा आदि काल से चली आ रही है। उदाहरण के लिए गंगा को माता मानना, सूर्य को जल चढ़ाना, पक्षियों को दाना डालना, निर्धनों को भोजन-कपड़ा आदि देना, यह सब भगवान के विराट स्वरूप की पूजा है किंतु जिस साकार की उपासना करने के लिए भगवान अर्जुन को कह रहे हैं, वह श्रीकृष्ण के आकार की पूजा है। अर्जुन के सामने सशरीर कृष्ण उपलब्ध थे, इसके बाद उनकी मूर्ति या उनके चित्र या प्रतीक में भगवान की छवि देखना भी श्रीकृष्ण की पूजा है।

भगवान अन्य देवी-देवताओं की पूजा का निषेध नहीं करते। वे आरंभ से कहते चले आ रहे हैं कि जो अन्य आराध्य देवों की उपासना करते हैं, वे भी परोक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं, और उनकी पूजा का फल भी मैं ही उन्हें देता हूं।

साकार उपासना की विधि तथा उसका फल अगले श्लोकों में भगवान बताते हैं:

ये तु सर्वाणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते। ६।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्। ७।
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः। ८।

भावार्थ : जो भक्तजन सभी कर्मों को मेरे अर्पण करके भक्तियोग द्वारा एक मात्र मेरा ध्यान करते हैं, मुझ पर निष्ठा रखते हैं, उन्हें मैं संसार-सागर से शीघ्र उबारता हूं, अर्थात् उन्हें जन्म-मरण के बंधन से मुक्त करता हूं। अत: तू मुझमें मन और बुद्धि स्थिर कर। ऐसा करके तू नि:संदेह मुझमेंनिवास करेगा: ६, ७, ८

भक्त के लिए अन्य विकल्प

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाजप्तुं धनंजय। ९।

भावार्थ : हे धनंजय अर्जुन, यदि तू मुझमें मन-बुद्धि स्थिर करने में असमर्थ है तो अभ्यास-योग द्वारा मुझे पाने की इच्छा कर: ९

व्याख्या : एक ही ध्येय की ओर निरंतर यत्न करना अभ्यास है। भगवान का आशय है कि यदि एक बार में मन और बुद्धि स्थिर नहीं होती तो हारकर मत बैठ जा, दूसरी बार, तीसरी बार, सौवीं बार, हजारवीं बार यत्न करता रह, तू मुझमें मन और बुद्धि स्थिर करने में सफल हो जायेगा।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि। १०।

भावार्थ : यदि तू अभ्यास करने में असमर्थ है तो जो भी कर्म करे उसे मेरे अर्पण कर, तू इसी से सिद्धि पायेगा: १०

व्याख्या : रजोगुणी व्यक्ति का मन चंचल होता है, एक जगह स्थिर नहीं रहता, ऐसा व्यक्ति भी समाज का उपयोगी अंग होता है। वह क्यों मोक्ष से वंचित रहे, ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान का आदेश है कि संसार के कर्म करते हुए वह यह समझे कि वह मेरे लिए कर्म कर रहा है। अपने-आपको मेरा मिशनरी समझकर कार्य करता जाये, उसे इसीसे सिद्धि मिल जायेगी। सिद्धि का अर्थ है साधना की पूर्णता। कर्मों का फल प्रभु के अर्पण करना कर्मयोगी की भक्ति है, ज्ञानयोग की भक्ति का प्रकार अगले श्लोक में भगवान बताते हैं।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्। ११।

भावार्थ : यदि ऐसा करने में भी तू असमर्थ है तो अपने मन को जीतकर सब कर्मों के फल का त्याग करके मेरा आश्रय ले: ११

व्याख्या : कर्म का फल प्रभु के अर्पण करना भक्तियोग है, कर्मों का फल छोड़ देना ज्ञानयोग है। अभ्यास से लेकर फल-त्याग की अवस्थाओं में से श्रेष्ठतम क्या है, इस विषय में भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यगाच्छान्तिरनन्तरम्।१२।

भावार्थ : अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठतर है, कर्मफल का त्याग श्रेष्ठतम है। कर्मफल के त्याग से शीघ्र शांति मिलती है: १२

व्याख्या : बिना ज्ञान के अभ्यास अंधविश्वास की ओर ले जाता है। इसलिए जिस दिशा में अभ्यास करना है, उसके विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। हर प्रकार के स्वभाव के अनुसार उसके मोक्ष का उपाय बताते समय भगवान कर्म छोड़ने के लिए कहीं नहीं कहते। संसार में रहकर अपने निश्चित कर्म करते हुए मोक्ष पाने को आदेश देते हैं।

भगवान के प्रिय भक्त के लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार: समदुःखसुखः क्षमी।१३।
संतुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रिय:।१४।

भावार्थ : जो व्यक्ति किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता, सभी प्राणियों का हितैषी है, दयालु है, मेरेपन के भाव से रहित है, अहंकाररहित है, सुख और दुख को समान समझता है, क्षमावान है, सदा संतोषी है, योगी अर्थात् स्थिरचित्त वाला है, मन को वश में करने वाला है, जिसका निश्चय दृढ़ है, जिसने मन और बुद्धि को मुझमें टिका दिया है, वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है: १३, १४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य:।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य: स च मे प्रिय:।१५।

भावार्थ : जो किसी जीव को व्याकुल नहीं करता, जो स्वयं भी किसी के कला से व्याकुल नहीं होता, जो हर्ष, भय और उत्तेजना से रहित है, वह मेरा प्रिय है: १५

अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मदभक्त: स मे प्रिय:।१६।

भावार्थ: जिसकी कोई चाह नही है, जो पवित्र विचारों वाला है, जो कार्यकुशल है, जो पक्षपात से रहित, है, जो दुःख के अवसर पर भी दुःखी नहीं होता, जिसने कर्तापन का अभिमान त्याग दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है: १६

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रिय:।१७।

भावार्थ : जो प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होता, किसीसे द्वेष नहीं करता, इष्ट पदार्थ के न मिलने पर शोक नहीं करता, जिसे कोई लालसा नहीं है, जिसने शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के कर्मों का फल त्याग दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है: १७

सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु सम: सङ्गविवर्जितः।१८।
तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर:।१९।

भावार्थ : जो शत्रु और मित्र से एक भाव रखता है, मान-अपमान; में एक-सा अनुभव करता है, जो सदी-गर्मी अर्थात् अवसाद और उत्तेजना में एक समान रहता है,

जिसके लिए निंदा और स्तुति एक जैसी है, जिसका वाणी पर नियंत्रण है, जिसे जो मिलता है, उसी में संतुष्ट रहता है, जिसका किसी एक स्थान से विशेष लगाव नहीं है, वह स्थिर बुद्धि वाला भक्त मुझे प्रिय है: १८, १९

व्याख्या : दूसरे अध्याय में स्थिरबुद्धि व्यक्ति के जो लक्षण भगवान ने बताये हैं; पांचवें अध्याय में कर्मयोगी और संन्यासी के जो लक्षण बताये हैं, लगभग वे ही लक्षण भगवान ने भक्तियोग के प्रसंग में अपने प्रिय भक्त के बताये हैं। इन सबका तात्पर्य यह है कि कर्म, भक्ति या ज्ञान, इनमें से किसी भी योग की साधना की पूर्णता तक पहुंचे हुए व्यक्ति की अवस्था एक समान हो जाती है। इस अध्याय का समापन भगवान के इस वचन से होता है:

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतवि मे प्रिया:।२०।

भावार्थ : जो मुझमें श्रद्धा रखकर, मेरे बताये हुए अमृततुल्य, धर्मयुक्त कथन के अनुसार मुझे सर्वस्व मानते हैं, वे भक्त मुझे अत्यंत प्यारे हैं: २०

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्याय:॥१२॥

श्रीमद् भगवदगीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'भक्ति योग' नामक बारहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

तेरहवां अध्याय

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

गीता में कर्म, संन्यास, भक्ति तथा ज्ञान की चर्चा मिली-जुली-सी दिखाई देती है किंतु इसमें कर्मयोग का विषय मुख्य रूप से छठे अध्याय तक आता है। भक्तियोग की चर्चा मुख्य रूप से बारहवें अध्याय तक हुई है। तेरहवें अध्याय से ज्ञानयोग पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। अत: इस अध्याय से भक्तियोग से ज्ञानयोग की ओर विषयांतर हो रहा है।

सृष्टि और ब्रह्म, शरीर तथा आत्मा और परमात्मा आदि के विषय में गीता, अनेक प्रकार की विचारधाराओं का संगम है। हर विचारधारा का प्रवर्त्तक अपने पक्ष कों प्रस्तुत करने के लिए कुछ नये तकनीकी शब्द देता है। जैसे प्रकृति और पुरुष क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्त, पर और अपर, सत् और असत् इत्यादि। ये सभी शब्द प्रत्येक विचारधारा के प्रवर्त्तक ने अपने-अपने दर्शन में बताये हैं। भगवान ने अर्जुन को उपदेश देते समय उन शब्दों का ज्यों का त्यों प्रयोग किया है। गीतों के माध्यम से हम उन सभी दर्शनों के तकनीकी शब्दों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

इस अध्याय में भगवान दो नये शब्दों से अर्जुन का परिचय कराते हैं। वे शब्द हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। अवसर के अनुसार इन शब्दों की व्याख्या इस अध्याय में आयेगी।

इस अध्याय का आरंभ भगवान की इस वाणी से होता है :

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विद:।१।

भावार्थ : भगवान बोले, हे कुंतीपुत्र, इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है, इस क्षेत्र के जानने वाले को तत्त्वज्ञानी जन क्षेत्रज्ञ कहते हैं: १

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञान मतं मम।२।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, तू सभी क्षेत्रों अर्थात् सभी शरीरों के विषय में जानने वाला क्षेत्रज्ञ मुझे समझ। यही जानना ही मेरे मत के अनुसार ज्ञान है: २

व्याख्या : क्षेत्रज्ञ का सामान्य अर्थ क्षेत्र को जानने वाला है, किंतु इस अध्याय के मनन से ज्ञात होता है कि शरीर में निवास करने वाली आत्मा को तथा सृष्टि में परमात्मा को भी भगवान ने क्षेत्रज्ञ कहा है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यतप्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु।३।

भावार्थ : यह क्षेत्र क्या है? इसमें क्या-क्या परिवर्तन होते हैं? यह क्षेत्र कैसे उत्पन्न होता है, जिसके कारण से उत्पन्न होता है, उसका प्रभाव क्या है, यह सब मुझसे संक्षेप में सुन: ३

व्याख्या : क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय में संक्षेप में बताने का वादा करने से पूर्व भगवान अर्जुन को यह भी बताना चाहते हैं कि जो कुछ मैं तुम्हें बताने लगा हूं, वह ज्ञान तुम्हारे लिए नया हो सकता है, किंतु वास्तव में नया नहीं है। इस बात को भगवान अगले श्लोक

में इस प्रकार कहते हैं:

ऋषिभर्बहुदा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।४।

भावार्थ : यह ज्ञान ऋषियों ने वैदिक छँदों द्वारा गाया है, ब्रह्मसूत्र के पदों में कहा गया है। अन्य अनेक विधियों से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ है: ४

क्षेत्र क्या है?

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः।५।

इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं, समासेन सविकारमुदाहृतम्।६।

भावार्थ : पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, तीन गुणों से युक्त मूल प्रकृति, दस इंद्रियाँ, एक मन तथा इंद्रियों के पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, खुल देह, चेतना और धैर्य, इन सबके योग का नाम क्षेत्र है। इस क्षेत्र में रूपांतरण होता रहता है: ५, ६

व्याख्या : आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन पंच महाभूतों से जीव का शरीर बनता है। मन, बुद्धि और अहंकार से इस शरीर के अंतःकरण का निर्माण होता है। इन आठों के योग को अष्टधा प्रकृति कहते हैं।

अष्टधा प्रकृति से पूर्व की अवस्था को मूल प्रकृति कहते हैं। मूल प्रकृति में सतोगुणा, रजोगुण और तमोगुण एकसमान मात्रा में होते हैं। इन तीन गुणों की समान मात्रा होने से प्रकृति अव्यक्त, अप्रकट रहती है। इस अव्यक्त प्रकृति में चेतन तत्व का संचार होने से इन तीन गुणों की मात्रा में परिवर्तन होने लगता है। इस परिवर्तन को प्राचीन दर्शनों में प्रकृति का विकार या विकृति कहते हैं। इस विकृति के कारण अव्यक्त प्रकृति व्यक्त अर्थात् प्रकट हो जाती है।

चेतन तत्व से युक्त प्रकट प्रकृति में सतोगुण बढ़ने से मानव में देवतुल्य विशेषतायें बढ़ती है। रजोगुण की मात्रा बढ़ने से कर्मठता आदि मनुष्योचित गुण बढ़ते हैं, तमोगुण की अधिकता से प्राणी का निम्न योनि के जीवों का सा आचरण बढ़ता है।

भगवान ने इन श्लोकों में दस इंद्रियां और इंद्रियों के पांच विषय बतायें हैं। इस इंद्रियों में पांच कर्मेंद्रियां है। हाथ, पांव, वाक्, अर्थात् जिह्वा, गुदा तथा जनन अंग, ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। नाक, रसना, नेत्र, त्वचा तथा कान, ये पांच ज्ञानेंद्रियां हैं। पांच ज्ञानेंद्रियां पांच महाभूतों के आधार पर विकसित होती हैं। ये पांचों ज्ञानेंद्रियां अंतःकरण तथा आत्मा तक शरीर से बाहर के जिस-जिस विषय की सूचना देती है, उनकी व्याख्या गीता के पिछले अध्यायों में हम प्रस्तुत कर चुके हैं। अब प्रस्तुत प्रंसग के अनुसार पुनः बता रहे हैं:

स्थूलतम महाभूत पृथ्वी है। भारतीय दर्शनों में ठोस तत्व को पृथ्वी नाम दिया गया है। शरीर को ठोस आकार देने वाला तत्व पृथ्वी है। पृथ्वी की विशेषता गन्ध है। गंध को स्वीकार करने वाली ज्ञानेंद्रिय नाक है। अतः गंध नाक का विषय है।

शरीर में सिन्धता तरलता का कारण जल नामक महाभूत हैं। जल तत्त्व के कारण रसना स्वाद ग्रहण करती है अतः जल की विशेषता रस है और रस को स्वीकार करने वाली ज्ञानेंद्रिय रसना अर्थात् जिह्वा के स्वादाकुंर है। रसना का विषय रस है।

शरीर में ताप बनाये रखने वाले महाभूत को दर्शनों ने अग्नि तत्व कहा है। अग्नि प्रकाश का कारण भी है। प्रकाश को तेज भी कहते हैं। शरीर में प्रकाश को ग्रहण करने वाली इद्रिंय नेत्र है। नेत्रों द्वारा आत्मा और अंत:कारण यहीं रूप का ज्ञान होता है। अत: रूप को नेत्रों का विषय कहते हैं।

पृथ्वी अग्नि तथा जल, ये तीनों महाभूत स्थिर हैं। इन स्थिर तत्वों में गति लाने, एक तत्व को दूसरे तल तक पहुंचाने वाले महाभूत को वायु कहते हैं। शरीर से बाहर सृष्टि में फैला वायु तत्व आत्मा को स्पर्श को अनुभूति कराता हैं। स्पर्श को ग्रहण करने वाली ज्ञानेंद्रिय त्वचा है, अत: त्वचा का विषय स्पर्श है।

सूक्ष्मतम महाभूत आकाश है। शरीर में सभी महाभूतों के मध्य जितने खाली स्थान है, वहीं आकाश नामक महाभूत भरा हुआ है। शरीर से बाहर के जीवों और पदार्थों के मध्य जो खाली स्थान दिखाई देता है, वह खाली नहीं है, वहा आकाश नामक महाभूत व्याप्त है। आकाश में ही शरीर की और सृष्टि कीं सारी गतियां होती हैं, उन गतियों के कारण आकाश में जो लहरें बनती हैं उनसे शब्द उत्पन्न होता है। आत्मा को शब्द का अनुभव कराने वाली इंद्रिय कान है। अत: शब्द कान का विषय है।

जिह्वा ज्ञानेंद्रियों और कर्मद्रियों, इन दोनों में है। वाक् के नाम से वह कर्मेंद्रिय है और स्वाद ग्रहण करते समय वह रसना नामक ज्ञानेंद्रिय है। ज्ञानेंद्रियों, कर्मेंद्रियों तथा अंत:करण के समुच्चय को शरीर अथवा क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मा के प्रवेश से जीव में इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, धैर्य आदि भाव उपजते हैं। बिना आत्मा के सभी कर्मेंद्रियां, ज्ञानेंद्रियां देह कहलाती हैं। आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता, जो भी परिवर्तन, रूपांतर होता है, वह देह में होता है।

शरीर क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ है, यह ज्ञान है, किंतु केवल इतना जान लेना ही ज्ञान नहीं है। ज्ञान के अंतर्गत विषयों की सूची भगवान अगले श्लोक में दे रहे हैं:

ज्ञान, अज्ञान की परिभाषा

अमानित्वमदमिभत्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रह:।७।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम्।८।
असक्तिरनभिष्वंग पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।९।
मयि चनान्ययोगेने भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।१०।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानर्थदशर्नम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।११।

भावार्थ : सम्मान से दूर रहना, छल न करना, अहिंसा, क्षमा भाव सादगी, गुरु की सेवा, तन-मन की शुद्धता, मन की स्थिरता, आत्मसंयम: ७

इन्द्रयों के विषयों में विरक्ति, अहंकार न करना, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग दु:ख को कर्मों के दोष मानना: ८

संतान, तथा स्त्री में आसक्ति और ममता का न होना, प्रिय-अप्रिय स्थितियों में

अंत-करण का एकसा रहना: ९

मेरे प्रति अनन्य भक्ति जो विचलित न हो, एकांत को पंसद करना और जन-समूह के प्रति अरुचि: १०

आत्मा परमात्मा में मग्न रहना, तत्व ज्ञान ष आत्मा-परमात्मा के यथार्थ का यत्न करना, यह सब ज्ञान है, इसके अतिरिक्त अज्ञान है: ११

व्याख्या : इन पांचों श्लोको में भगवान ने बताया है केवल पोथी पत्रा पढ़ना या तर्क द्वारा पांडित्य बघारना ज्ञान नही है बल्कि नैतिक मूल्यों पर रहने की विद्या ज्ञान है। अज्ञान की सूची बहुत लंबी है। उस सूची को देने की बजाय भगवान ने एक वाक्य में कह दिया है क यह मैंने बता दिया है कि पालन करने योग्य कर्तव्य क्या हैं इनके अतिरिक्त और इनके विपरीत जो भी है। वह आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान है।

ब्रहा का स्वरूप: अद्वैत और द्वैत मतों के अनुसार

ज्ञेयं यतत्प्रवक्ष्यामी यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रहा न सतन्नासदुच्यते।१२।

भावार्थ : जो जानने योग्य है जिसे जानकर अमरता प्राप्त होती है और जो अनादि है, जो न सत् है न असत् है, उस ब्रह्मा के विषय में मैं तुम्हे बताऊंगा: १२

व्याख्या :अमरता का तात्पर्य है जन्म और मरण के भय से मुक्ति। यही मोक्ष है। जिसकी सत्ता किसी पर निर्भर नही है। असत् उसे कहते हैं जिसकी सत्ता किसी पर निर्भर है। इस श्लोक में भगवान ने नौवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में स्वयं को ब्रह्मास्वरूप कहते हुए कहा है, मैं संत भी हूं और असत भी हूं।

ये दोनो वचन विरोधीभासी प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि ब्रह्मा मे सभी विरोधाभास समा जाते हैं। हमें यह विरोधाभास इसलिए प्रतीत होता है कि हम अनुकूल और प्रतिकूल के प्रति भेदभाव रखते है। जब हम अकथनीय ब्रह्मा को शब्दों द्वारा समझने, समझाने का यत्न करते है तो बड़ी कठिनाई होती है क्योंकि ब्रह्मा कि कीसी से उपमा दी नहीं जा सकती क्योंकि ब्रह्मा जैसा कोई और नही है इसलिए अलग-अलग, दार्शनिक अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार ब्रह्मा को अलग-अलग शब्दों द्वारा कहने का यत्न करते हैं। भगवान अर्जुन को समझाने के लिए उस समय के अद्वैत सिद्धांत के शब्दों का सहारा लेकर बता रहे हैं :

सर्वत:पाणिपांद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत:श्रुतिम्ल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठती।१३।

भावार्थ : सभी ओर उसके हाथ-पैर हैं। सभी ओर उसके नेत्र, सिर और मुख हैं। सभी ओर उसके कान हैं। उसने सारे संसार को ढ़खा हुआ है: १३

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि परमात्मा से कुछ छिपा हुआ नहीं हैं। कहीं भी बैठकर उसे अर्पित करो, उस तक पहुंच जाता है। वह इतना विशाल है कि सारा संसार उसकी ओट में समा जाता है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोस्तृ च।१४।

भावार्थ : वह इंद्रियों के विषयों को जानने वाला है किंतु स्वयं इंद्रियों से रहित है। वह इसका भरण-पोषण करता है किंतु वह किसीसे लिप्त नहीं होता। वह प्रकृति के तीनों

गुणों से रहित है फिर भी वह इन गुणों का भोग करने वाला है: १४.

व्याख्या : माता-पिता संतान का पालन-पोषण करने के साथ उससें आशायें लगाते हैं किंतु ब्रह्म की किसीसे कोई आशा-आकांक्षा नहीं है। वह अनासक्त होकर सभी जीवों का पालन-पोषण करता है। ब्रज्ज का परा अंश अर्थात् चेतन भाग प्रकृति के तीनों गुणों से रहित है, उसका अपरा अंश अर्थात् जड़ भाग प्रकृति के तीनों गुणों का संगम है, अत: ब्रह्म तीनों गुणों से रहित होकर भी उन गुणों का भोक्ता है। यह शब्दावाली अकथनीय ब्रह्म को शब्दों में बांधने का अधूरा प्रयास है। तात्पर्य यह हैं कि ब्रह्म वर्णन का विषय नहीं है, अनुभूति का विषय है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिकं च तत्।१५।

भावार्थ : वह ब्रह्मा सभी जड़-चेतन पदार्थों और प्राणियों के बाहर भी है, भीतर भी है। अति सूक्ष्म होने के कारण वह ठीक से जाना नहीं जा सकता। वह दूर भी है, निकट भी है: १.५

व्याख्या : वह दूर भी है, निकट भी हैं। इसका आशय यह है कि ज्ञानी तथा आस्तिक जन हर समय उसे आसपास घेरे हुए पाते हैं, वे आत्मा के रूप में उस परमात्मा का अनुभव करते हैं। उनके लिए ब्रह्मा निकट है। अज्ञानी और नास्तिक जन सर्वत्र उसकी लीला देखकर भी उसे पहचान नहीं पाते, उनके लिए ब्रह्मा दूर है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।१६।

भावार्थ : ब्रह्मा वास्तव में अविभाजित नहीं है किंतु सभी पांचभौतिक प्राणियों में विभाजित सा प्रतीत होता है। सभी प्राणियों का पालन: करने वाला भी वही है, संहार करने वाला भी वही है और उन्हें उत्पन्न करने वाला भी वही है: १६

व्याख्या : परमात्मा के रूप में उस ब्रह्मा ने सारी सृष्टि को व्याप्त किया हुआ है इसलिए ब्रह्मा को अविभाजित कहा गया है। आत्मा के रूप में वह सभी प्राणियों में बंटा हुआ सा होता है।

ब्रह्म के रूप में वह सबको उत्पन्न करता है, विष्णु के रूप में वह सबका पालन-पोषण करता है और शिव के रूप में वह सबका संहार करता है। संहार करने वाले को हमारे शास्त्रों में शिव कहा गया है। सिव का अर्थ कल्याणकारी है। यह इसलिए कि संहार सृष्टि का आवश्यक अंग है, संहार के नयी सृष्टि रचना संभव नही है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस: परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।१७।

भावार्थ : सभी प्रकाशवान पिंडो का प्रकाश ब्रह्मा के कारण है। अंधकार से उसका कोई संबंध नही है। ब्रह्मा ही ज्ञान है, वही जानने योग्य है, वही ज्ञान द्वरा पाने योग्य है, वही सबके हृदय में स्तिथि है: १७

इति क्षेत्रं तथा ज्ञान ज्ञेयं चोक्तं समासत:।
मद्भक्त एतद्विज्ञाज मद्भावायोपद्यते।१८।

भावार्थ : इस प्रकार मैंने तुझे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के विषय में संक्षेप में बताया है। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा: १८

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकरांश्च गुणांश्चैव विद्धिः प्रकृतिसम्भवान्।१९।

भावार्थ : इस बात को तू समझ ले कि प्रकृति और पुरुष, ये दोनों अनादि है तू यह भी जान ले कि विकार अर्थात् परिवर्तन प्रकृति के गुणों के कारण उत्पन्न होते हैं: १९

व्याख्या : प्रकृति और पुरुष को दो मानना द्वैत सिद्धांत है। पुरुष चेतन तत्त्व है और प्रकृति जड़ तत्व है। इन दोनों के संयोग से सृष्टि की रचना होती है। पुरुष तत्व, अर्थात चेतन तत्त्व में कोई परिवर्तन नही होता। चेतन तत्त्व के संयोग से प्रकति के तीनो गुणों में होते हैं। प्रकृति और पुरुष और इन दोनों के आदि का किसी को पता नही इसलिए ये दोनों अनादि हैं।

कार्यकरणकर्तृवे हेतु: प्रकृतिरुच्यते।
पुरुष: सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।२०।

भावार्थ : पांच भौतिक शरीर उत्पन्न करना प्रकृति का कार्य है। ज्ञानेंद्रियां, कर्मेन्द्रिया, मन, बुद्धि और अहंकार, ये कार्य को संपन्न करने वाले प्रकृति के साधन हैं। इन साधनों को करण कहते हैं। पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व सुख-दुखों को अनुभव करने वाला कहा जाता है: २०

पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्तुणान्।
कारणं गुणसंकोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।२१।

भावार्थ : प्रकृति में टिका हुआ पुरुष प्रकृति के तीनों गुणों को भोगता है। इन गुणों में आसक्ति के कारण वह उत्तम या अधम योनियों में जन्म लेता है: २१

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर:।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुष: पर:।२२।

भावार्थ : देह में स्थित आत्मा रूपी यह चेतन तत्त्व परमात्मा है। अनासक्त होने के कारण वह साक्षी कहलाता है, ठीक से सम्मति देने के कारण वह अनुमंता कहलाता है, पोषण करने वाला होने के कारण वह भर्ता कहलाता है, पाप-पुण्यों का फल भोगने के कारण वह भोक्ता कहलाता है, अपने-आपको देह या प्रकृति से अलग समझ लेने से वह सर्वोपरि महेश्वर और परमात्मा कहलाता है: २२

व्याख्या : देह जो आत्मा की अभिव्यक्ति का साधन है, यंत्र है, उससे अपने-आपको एकाकार मान लेने के कारण व्यक्ति सुख-दुःख का अनुभव करता है, उत्तम या मध्यम योनियों में जन्म लेता है। जो व्यक्ति देह और आत्मा को भिन्न मानकर देह की आसक्ति त्याग देता है उसकी आत्मा में और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता। जब तक प्रकृति और पुरुष को भिन्न समझने का ज्ञान नहीं होता, तब तक जन्म-मरण का बंधन होता है, भिन्नता का ज्ञान होने पर क्या होता है, यह अगले श्लोक में भगवान बताते हैं:

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणै: सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।२३।

भावार्थ : जो व्यक्ति तीन गुणों से युक्त प्रकृति और पुरुष की वास्तविकता को जानकर सभी कार्य-व्यवहार करता है, वह पुन: जन्म नहीं लेता: २३

व्याख्या : प्रकृति और पुरुष की वास्तविकता को जानने से यह आशय है कि पांचभौतिक देह मेरा लिबास है। मैं इस लिबास को धारण करने वाली आत्मा हूं। यह

शरीर नाशवान है। यह समझने से शरीर से आसक्ति नहीं रहती और व्यक्ति के कार्य-व्यवहार में नैतिकता आ जाती है। ऐसा व्यक्ति जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

आत्मसाक्षात्कार के उपाय

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।२४।

भावार्थ : अपने भीतर की आत्मा को कई लोग ध्यानयोग से देखते हैं, कई सांख्ययोग द्वारा देखते हैं और कई लोग कर्मयोग द्वारा देखते है: २४

व्याख्या : प्रत्येक व्यक्ति अपने मूल स्वभाव के अनुसार विधि चुनकर आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। अंतर्मुखी जन ध्यानयोग द्वारा अपनी आत्मा को अनुभव कर सकते हैं। ध्यान अपने भीतर की ओर झांकने की सीधी विधि है। सांख्ययोगी अर्थात् प्रबुद्ध जन अध्ययन और मनन द्वारा आत्मा को जानकर अपनी ज्ञानेंद्रियों को बाहरी विषयों से हटाकर अपने भीतर ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं। बहिर्मुखी जन अपनी कर्मठता से जनहित के कार्य करके अपनी आत्मा का अनुभव कर सकते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।२५।

भावार्थ : जो लोग आत्मा-परमात्मा के विषय में स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते वे अन्य ज्ञानी जनों से उनके विषय में सुनकर उपासना करके भी जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं: २५

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में अन्य तथ्य

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।२६।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, स्थिर जीव और चलने-फिरने वाले सभी जीव क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होते हैं: २६

व्याख्या : वृक्ष, लता आदि स्थिर जीव हैं, इन्हें शास्त्रों में स्थावर प्राणी कहते हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चलने-फिरने वाले जीवों को शास्त्रों में जंगम प्राणी कहते हैं। इन सभी स्थावर और जंगम प्राणियों की देहे क्षेत्र है और उनमें चेतन तत्त्व क्षेत्रज्ञ है। पांचभौतिक क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा के संयोग से सृष्टि का सारा व्यापार चलता है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।२७।

भावार्थ : जो व्यक्ति यह मानता है कि सभी नाशवान पांचभौतिक प्राणियों में परमेश्वर का निवास है और जो यह भी मानता है कि इन प्राणियों की देह का नाश होने पर भी परमेश्वर नष्ट नहीं होता, वास्तव मैं वही ज्ञानी है: २७

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।२८।

भावार्थ : जो व्यक्ति सभी प्रणियों में एक ही ईश्वर को टिका हुआ समान भाव से देखता है वह अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता। वह मोक्ष रूपी परमगति पाता है: २८

व्याख्या : अपने द्वारा अपने को नष्ट न करने का आशय यह है कि सभी प्राणियों

को समत्व भाव से देखने वाला व्यक्ति किसी का भी तिरस्कार नहीं करता। इससे उसका अनिष्ट नहीं होता।

प्रकृत्यैव, च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति। २९।

भावार्थ : जो यह समझता है कि शरीर के सभी कार्य प्रकृति द्वारा किये जा रहे हैं, उन कर्मों का कर्ता आत्मा नहीं है, वह ठीक समझता है:

व्याख्या : इस श्लोक में भगवान पुन: कह रहे हैं कि मेरे दिये हुए ज्ञान के आधार पर अपनी आत्मा को पांचभौतिक देह से अलग समझने का यत्न करो। इससे तुम कर्मों के फल से लिप्त नहीं होगे। शरीर तथा आत्मा को दो अलग-अलग विभागों में मानने की सीख इस श्लोक में दी गयी है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा। ३०।

भावार्थ : जिस समय व्यक्ति यह समझ लेता है कि सभी पांचभौतिक प्राणी एक परमात्मा में स्थित हैं, और उस परमात्मा से सभी पांचभौतिक प्राणियों का विस्तार हो रहा है, उस समय व्यक्ति ब्रह्मस्वरूप हो जाता है: ३

व्याख्या : इस श्लोक से यह प्रश्न सहज ही उपज सकता है कि प्रत्येक प्राणी परमात्मा का अंश है तो उसके किये हुए अच्छे या बुरे फल का भोक्ता भी परमात्मा को होना चाहिए, इस संभावित प्रश्न का उत्तर भगवान अगले श्लोक में देते है:

अनात्दित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते। ३१।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, शरीर में टिका हुआ परमात्मा अनादि है, अविनाशी है। वह सतोगुण, रजोगुण से अलग है। इसलिए न तो वह कर्म करता है, न ही कर्मों से लिप्त होता है: ३१

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि फल से आसक्ति व्यक्ति को बंधन में डालती है। परमात्मा की कर्मों के फल में कोई आसक्ति नहीं है। जीव में उसकी उपस्थिति मात्र से कर्म होते हैं, वह अकर्ता बना रहता है। इस बात को भगवान एक उदाहरण द्वारा अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते। ३२।

भावार्थ : जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होने के कारण किसी प्रभाव से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा प्रकृति के गुणों से लिप्त नहीं होता: ३२

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत। ३३।

भावार्थ : हे अर्जुन जैसे एक सूर्य सारे संसार को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रों का स्वामी आत्मा संपूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है: ३३

व्याख्या : प्रकाशित करने का तात्पर्य है, जीवन देना, ज्ञान देना, गतिमान करना। जो कार्य हमारे संसार में सूर्य का है, वैसा ही कार्य हमारे शरीर में आत्मा का है। जिस

प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा संसार में जीवों को, वनस्पतियों को गतिमान करता है वैसे ही जीवात्मा शरीर को गतिमान करता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्। ३४।

भावार्थ : इस प्रकार जो व्यक्ति: ज्ञान द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अंतर समझ लेता है, वह प्रकृति से मुक्त होने के उपाय जान लेता है। यह जानते ही उसे परम पद मोक्ष प्राप्त हो जाता है: ३४

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्याय:॥ १३॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग' नामक तेरहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

चौदहवां अध्याय

गुणत्रय विभाग योग

प्रकृति तथा उसके गुणों की चर्चा गीता में जहां-तहां हुई है। इन्ही गुणों के आधार पर सगुण, निर्गुण, त्रिगुण, गुणातीत आदि शब्द बने हैं। इन गुणों के प्रभाव के विषय में भगवान इस अध्याय में विस्तार से बता रहे हैं।

तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के प्रसंग में भगवान ने प्रकृति के पांचभौतिक स्थूल भाग के विषय.में अधिक कहा है। इस अध्याय में भगवान प्रकृति के सूक्ष्म भाग, अंतःकरण से संबंधित पक्ष पर अधिक बता रहे हैं।

अव्यक्त प्रकृति में समाई हुई ये तीन विशेषतायें त्रिगुण के नाम से जानी जाती हैं। प्रकृति की ये तीन विशेषतायें कौनसी हैं, ये किस प्रकार आत्मा को जन्म-मरण के चक्कर में डालती हैं, इन सबको हम भगवान की वाणी द्वारा समझने का यत्न करते हैं। इस गहरे ज्ञान के प्रति अर्जुन को आकृष्ट करने के लिए भगवान कहते हैं:

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गाताः।१।

भावार्थ : भगवान बोले, मैं इस ज्ञान के विषय में तुझे पुनः बताता हूं, जो सभी ज्ञानों से श्रेष्ठ है, जिसे जानकर सभी मुनि जन देह-बंधन से मुक्त होकर मोक्ष रूपी परम सिद्धि को पहुंच चुके हैं: १

इदं ज्ञानभुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।२।

भावार्थ : इस ज्ञान को धारण करके जो जन मुझमें समा चुके हैं, वे न तो सृष्टिकाल में उत्पन्न होते हैं, न ही प्रलयकाल में व्याकुल होते हैं: २

व्याख्या : इन दोनों श्लोकों में भगवान ने कहा है कि इस ज्ञान के विषय में मैं तुम्हें पहली बार नहीं कह रहा हूं, पहले भी कह चुका हूं। अब पुनः बता रहा हूं ताकि तुम्हारे अंतःकरण में यह अंकित हो जाये।

इससे पहले आठवें अध्याय के सत्रहवें, अठारहवें, उन्नीसवें श्लोक में भगवान कह चुके हैं कि कर्मों के बंधन ब्रह्मा की रात्रि में अर्थात् प्रलय काल में भी समाप्त नहीं होते, आत्मा के साथ सुप्तावास्था में बने रहते हैं। ब्रह्मा के दिन को सृष्टि रचना के समय ये कर्मों के बंधन नये जन्म के साथ पुनः प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार जन्म-समरण की व्याकुलता बनी रहती है किंतु जिस ज्ञान की भगवान अर्जुन को याद दिला रहे हैं, इससे जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति मिल जाती है। वह ज्ञान क्या है, यह अगले श्लोक में भगवान बताते है:

ब्रह्म सृष्टि के माता-पिता हैं

मम योनिर्महद्ब्रह्मा तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।३।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, यह विशाल ब्रह्म का प्रकृति अंश मेरे समक्ष गर्भाधान का स्थान है। इसमें मैं चेतना का बीज स्थापित करता हूं। इससे जड़-चेतनादि की उत्पत्ति होती है: ३

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या:।
तासां ब्रह्मा महद्ध्योनिरहं बीजप्रद: पिता।४।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, जीवों के जितने रूप, आकार, प्रकार हैं, उन सबको उत्पन्न करने वाला योनि-स्थल विशाल ब्रह्मा का प्रकृति भाग है, मैं उस ब्रह्मा का चेतन अश इस प्रकृति में बीज डालने वाला पिता हूं: ४

व्याख्या : इस श्लोक का यह अर्थ अद्वैत सिद्धांत के आधार पर किया गया है जिसमें प्रकृति और पुरुष दो अलग-अलग सत्तार्यें नहीं हैं बल्कि एक ही ब्रह्म में जड़ और चेतन, ये दोनों सत्तायें समाई हुई हैं।

प्रकृति के तीन गुण और उनकी विशेषतायें

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृतिसंभवा:।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।५।

भावार्थ : हे महान् भुजाओं वाले अर्जुन, प्रकृति के ये तीनों गुण, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इस अविनाशी आत्मा को देह से बाँधकर रखते हैं: ५

व्याख्या : प्रकृति के ये तीन गुण, तीन मूल प्रवृत्तियां हैं। जब आत्मा अपने आपको प्रकृति के साथ एकाकार अनुभव करती है तो वह भूल जाती है कि वह प्रकृति से अलग चेतन तत्त्व है। इस बात को हम इस उदाहरण से समझ सकते है कि जब हम कोई नाटक या फिल्म देखते हैं, उस समय हम उस रचना में इतने डूब जाते हैं कि नायक-नायिका के सुख-दुःख में हंसते-रोते हैं। खलनायक पर क्रोध करते हैं। यह इसलिए कि हम फिल्म की कहानी से स्वयं को एकाकार कर लेते हैं। वैसे ही आत्मा को प्रकृति में एकाकार कराने वाली तीन शक्तियां हैं। इन तीन शक्तियों के नाम हैं-सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। सभी व्यक्तियों में इन तीनों गुणों की कुछ-न-कुछ मात्रा होती है। जिनमें सतोगुण की मात्रा अधिक होती है, वे सतोगुणी कहलाते हैं। उसी प्रकार रजोगुण की मात्रा की अधिकता के कारण वे रजोगुणी कहलाते हैं और तमोगुण की मात्रा की अधिकता के कारण तमोगुणी की श्रेणी में आते हैं। इनमें से प्रत्येक प्रबल गुण अपने आकर्षण के कारण व्यक्ति को जन्म-मरण के बंधन में बांधता है। कौनसा गुण किस बंधन में बांधता है, यह बात भगवान अगले श्लोकों में बताते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।६।

भावार्थ : हे निष्पाप अर्जुन, सतोगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश देने वाला और स्वास्थ्यकर है। यह गुण आत्मा को सुख और ज्ञान की आसक्ति में बांधता है: ६

व्याख्या : मैं ज्ञानी हूं, निर्मल हूं, सुखी हूं, स्वस्थ हूं, इत्यादि का अभिमान होना, सतोगुण के कारण बंधना है। जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होने के लिए इस अभिमान से निकलने का आदेश है। अन्यथा मान-सम्मान की इच्छा पुनर्जन्म का कारण बन जाती है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मङ्गेन देहिनम्।७।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, रजोगुण तृष्णा, अनुराग की आसक्ति से उत्पन्न होता है। यह गुण आत्मा को कर्मठ बनाता है और कर्मफल के साथ बांधता है: ७

व्याख्या : रजोगुणी व्यक्ति निष्किय नहीं बैठ सकता। क्रियाशील होना रजोगुणी

की विवशता है। यदि क्रियाशीलता किसी वस्तु के प्रति होती है तो तृष्णा बढ़ती है। व्यक्ति के प्रति होती है तो प्रेम और ममता बढ़ती है। अनंत कामनाओं की पूर्ति करने की अंधी दौड़ में उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि रुकना कहां है। अंतकाल आ जाता हे, उसे अपनी उपलब्धियों का फल चखने का अवसर नहीं मिलता। उसकी अतृप्त कामनायें उसके नया जन्म लेने का कारण बनती हैं।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।८।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, तू तमोगुण को अज्ञान से उपजा हुआ जान। यह देहधारियों को भ्रम में डालता है और आत्मा लापरवाही, आलस्य, निद्रा की कामना बांधता है: ८

व्याख्या : रजोगुणी की कामनायें उसे कर्मठता की ओर धकेलती हैं। इसके विपरीत तमोगुणी व्यक्ति में आलस्य में लीन होने की इच्छा होती है। यही इच्छा उसे अगले जन्म में अधिक मूढ़ बनाती है। अज्ञान से तमोगुण उपजता है और तमोगुण से अज्ञान बढ़ता है। अज्ञान और तमोगुण का यह संबंध अनके जन्मों तक चलता है।

इन तीन गुणों का फल सार के रूप में भगवान अगले श्लोक में पुन: बताते हैं।

सत्वं सुखे संजयति रज: कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तम: प्रमादे संजयत्युत।९।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, सतोगुण से सुख की प्रतीति, होती है रजोगुण से कामों में लगने की प्रवृर्ती होती है। तमोगुण ज्ञान ढककर आलस्य निद्रा में लगाता है: ९

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रज: सत्वं तमश्चैव तम: सत्वं रजस्तथा।१०।

भावार्थ : हे भरतवंशी, अर्जुन, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण प्रबल होता है। सतोगुण और तमोगुण को दबाकर प्रबल होता है। इसी प्रकार सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण प्रबल होता है: १०

व्याख्या : प्रकृति के ये तीनों गुण कम या अधिक मात्रा में हरएक में विद्यमान होते हैं। जो गुण प्रबल होता है, वह अन्य गुणों को प्रभावित करके अपने अनुकूल बना लेता है। शेष गुणों को दबाने के उपरांत मुख्य गुण का विकास किन लक्षणों से प्रकट होता है, इस विषय में भगवान अगले श्लोकों में बताते हैं।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत।११।

भावार्थ : जिस समय शरीर की सभी कर्मेद्रियों और ज्ञानंदरियों से विवेकपूर्वक कार्य होने लगे तो समझो सत्व गुण की वृद्धी हुई है: ११

व्याख्या : तब व्यक्ति शुभ बोलता है, शुभ सोचता है, शुभ कर्म करता है उसके हर आचरण से उसके विवेक की झलक मिलती है।

लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ: कर्मणामशम: स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।१२।

भावार्थ : हे भरतवशियों में श्रेष्ठ अर्जुन, जब रजोगुण की वृद्धि होती है, तब क्रियाशीलता, अशांति और सांसारिक भोगों के प्रति लालसा बढ़ती है: १२

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।१३।

भावार्थ : हे कुरुनंदन अर्जुन, तमोगुण की वृद्धि होने से अज्ञान बढ़ता है, क्रियाशीलता घटती है, आलस्य और मोह उत्पन्न होता है: १३

गुणों के आधार पर अगला जन्म और गति

यदा सत्तवे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।१४।

भावार्थ : सतोगुण के उत्कर्षकाल में आत्मा देह त्यागे तो आत्मा उन निर्मल लोकों को पहुंचती है जहां उत्तम कर्म करने वाले पहुंचते हैं: १४

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।१५।

भावार्थ : रजोगुण की प्रबलता के समय शरीर त्यागने पर आतमा कर्मशील लोगों के घर में जन्म लेती है और तमोगुण की अधिकता के समय देह त्यागने वाले मूढ़ योनियों में जन्म लेते हैं: १५

कर्मण: सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमस: फलम्।१६।

भावार्थ : सतोगुण का फल निर्मलता है, रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल अज्ञान है: १६

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।१७।

भावार्थ : सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उपजता है और तमोगुण से आलस्य, मोह और अज्ञान उपजते हैं: १७

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा:।१८।

भावार्थ : सतोगुणी उत्तम गति को पाते है, रजोगुणी मध्यम गति को प्राप्त होते है और तमोगुणी निंदनीय कर्मों के कारण अधोगति पाते है: १८

व्याख्या : उत्तम गति देव लोक है, मध्यम गति मनुष्य लोक है और अधोगति मनुष्य से निम्न कोटि के जीव हैं। ये तीनों गतियां जन्म-मरण के बंधन में डालती हैं, उनसे मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष पाने का उपाय भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

मोक्ष का मार्ग गुणों से मुक्त होने पर:

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।१९।

भावार्थ : जब आत्मा यह समझ लेती है कि सत्व, रज और तम, प्रकृति के ये तीनों गुण कर्मों के कर्त्ता हैं, मैं उन कर्मों का मात्र दर्शक हूं, तो आत्मा मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाती है: १९

व्याख्या : अच्छी संगत और अध्ययन, मनन से जब व्यक्ति यह अनुभव कर लेता है कि आत्मा केवल चेतन तत्व है। इस चेतन तत्त्व की देह में उपस्थिति से प्रकृति के तीनों

गुणों में परिवर्तन होता है। जैसे सूर्य की उपस्थिति मात्र से फसलें पकती हैं, बादल बनते हैं, वर्षा होती है। सृष्टि के इन परिवर्तनों के लिए सूर्य कोई सम्मान-पत्र नहीं चाहता। सूर्य जैसा अकर्त्तापन जब आत्मा अनुभव करती है तो व्यक्ति अपने शरीर में होने वाली क्रियाओं का दर्शक बन जाता है। ऐसा समझता है कि शुभ कर्म हुआ है तो सतोगुण की प्रबलता के कारण हुआ होगा। कर्मठता बड़ी है तो रजोगुण उत्कर्ष में होगा। आलस्य ने घेर लिया हैं तो तमोगुण में वृद्धि हुई होगी। शरीर की हर क्रिया को अपना कर्म मानने की बजाय प्रकृति का कर्म मानने से व्यक्ति ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादु:खैर्विमुक्तेऽमृतमश्नुते।२०।

भावार्थ : देह में होने वाले इन तीनों गुणों के प्रभाव को समझने वाला व्यक्ति तीनों गुणों को लाघ जाता है। ऐसा व्यक्ति जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और दुखों से मुक्त होकर मोक्ष पाता है: २०

व्याख्या : गुणों को लांघ जाने का आशय है यह समझ लेना कि गुणों की प्रबलता के कारण होंने वाली क्रियायें देह के स्तर तक हैं, मेरी आत्मा उन क्रियाओं के लिए न अभिमान करती है न ही उसके लिए लज्जित होती है। आत्मा उन क्रियाओं का अच्छा या बुरा कोई फल नहीं चाहती। आत्मा की ऐसी अवस्था को गुणातीत अवस्था कहते हैं। ऐसी अवस्था वाले जन मोक्ष पाते हैं।

मोक्ष के बाद नया जन्म नहीं मिलता। जब जन्म ही नहीं होगा तो बुढ़ापा मृत्यु और दु:ख कहां से आयेंगे।

तीनों गुणों से मुक्त व्यक्ति के लक्षण

अर्जुनु उचाव

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।२१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे प्रभो, इन तीनों गुणों से मुक्त व्यक्ति के लक्षण क्या हैं? उस व्यक्ति का आचरण कैसा होता है और इन तीन गुणों से मुक्त होने की उपाय क्या है: २१

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।२२।

भावार्थ : भगवान बोले, हे पांडुपुत्र, जो व्यक्ति सतोगुण के फलस्वरूप ज्ञान को, रजोगुण के परिणामस्वरूप क्रियाशीलता को तथा तमोगुण के परिणामस्वरूप आलस्य को प्राप्त होने पर न तो दुखी होता है, न ही उनकी आकांक्षा करता है, वह तीनों गुणों से मुक्त है: २२

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।२३।

भावार्थ : प्रकृति के गुण देह के स्तर तक अपना कार्य करते हैं, जो व्यक्ति ऐसा मानकर तटस्थ बना रहता है, अपने अंतःकरण को विचलित नहीं करता, वह व्यक्ति तीनों गुणों से मुक्त हैं: २३

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।२४।

भावार्थ : जो व्यक्ति दुःख-सुख में एक समान रहता है, मिट्टी, पत्थर और सोने को एक जैसा महत्त्व देता है, जो प्रिय और अप्रिय स्थितियों में एक समान रहता है, जो निंदा और स्तुति को समान भाव से अपनाता है वह धीर व्यक्ति तीनों गुणों से मुक्त है: २४

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।२५।

भावार्थ : जो व्यक्ति मान-अपमान में एकसा रहता है, जिसके लिए मित्र और शत्रु एक जैसे हैं, जिसने कर्मों के फल की इच्छा छोड़ दी है, वह व्यक्ति तीनों गुणों से मुक्त है: २५

व्याख्या : गुणातीत अर्थात् गुणों से मुक्त व्यक्ति के लक्षण लगभग वे ही हैं जो दूसरे अध्याय में भगवान ने स्थिरबुद्धि व्यक्ति के बताये हैं, पांचवें अध्याय में संन्यासी के बताये है तथा बारहवें अध्याय में अपने प्रिय भक्त के बताये हैं। सारांश यह है कि किसी भी योग का अवलंबन करो, उसकी पूर्णता का फल एक समान हैं।

गुणों से मुक्त होने का सरल उपाय

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूताय कल्पते।२६।

भावार्थ : जो व्यक्ति भक्तियोग द्वारा पूर्ण निष्ठा से मेरी आराधना करता है, वह तीनों गुणों, से मुक्त होकर ब्रह्म में लीन होने के योग्य हो जाता है: २६

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।२७।

भावार्थ : क्योंकि अविनाशी ब्रह्म का, अमरत्व का, शाश्वत धर्म का और परम आनद का आश्रय स्थल मैं हूं: २७

व्याख्या : इन दोनों लोकों का तात्पर्य यह है कि प्रभु के प्रति पूरी तरह समर्पित होने में गुणातीत व्यक्ति के लक्षण स्वत: प्रकट हो जाते हैं क्योंकि समर्पण अहंकार को समाप्त करता है अन्यथा गुणों में बँधा व्यक्ति अहंकार के कारण पूरी तरह समर्पित नहीं हों पाता। सात्त्विक अहंकार व्यक्ति में ज्ञानी होने का घमंड भरता है, राजसिक अहंकार पद, कुल, धन आदि के लिए गौरव चाहता है, तामसिक अहंकार अपनी मस्ती के सामने सुबकों हीन समझता है। सच्ची भक्ति भगवान को अविनाशी ब्रह्म का रूप मानती है और उसीमें समा जाने में परम आनंद पाती है

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥१४॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एव ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'गुणत्रय विभाग योग' नामक चौदहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

पंद्रहवां अध्याय

पुरुषोतम योग

वेदांत की विचारधारा को अद्वैतवाद कहते हैं। सांख्य की विचारधारा को दैतवाद कहते हैं। इन दोनों विचारधाराओं का गीता में अनेक जगह परिचय दिया गया है। एक तीसरी विचारधारा भी श्रीकृष्ण के अवतार-काल में, प्रचलित थी। यह तीसरी धारा प्रकृति और आत्मा, इन दोनों पर नियंत्रण रखने वाली तीसरी सत्ता को मानती थी, यह सत्ता परमात्मा है। उस विचारधारा को त्रैतवाद कहते हैं। इस अध्याय में उस तीसरी सत्ता को पुरुषोत्तम कहा गया है।

पुरुष का अर्थ है चेतन तत्त्व अथवा आत्मा। पुरुषोत्तम का अर्थ है सभी चेतन तत्त्वों से उत्तम अर्थात् परमात्मा। इस अध्याय में भगवान ने इसी पुरुषोतम के कई पक्षों का दिग्दर्शन कराया है।

इस विषय के साथ-साथ इस अध्याय में भगवान ने यह भी बताया है कि आत्मा जब एक देह को छोड़कर जाती है तो उसके साथ क्या-क्या जाता है और जब आत्मा नयी देह प्राप्त करती है तो वह किस प्रक्रिया से अपने-आपको प्रकट करती है।

इस अध्याय का आरंभ एक उल्टे वृक्ष के प्रतीक से हो रहा है।

उल्टे वृक्ष के उदाहरण से भगवान क्या कह रहे हैं?

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तु वेद स वेदवित्।१।

भावार्थ : भगवान बोले, यह संसार एक ऐसे पीपल के पेड के समान है जिसकी जड़ ऊपर है, शाखायें नीचे हैं। इस वृक्ष को अविनाशी कहा गया है। वेद इस वृक्ष के पत्ते है। जो इस यथार्थ को जानता है, यह वेद का तात्पर्य समझता है: १

व्याख्या : यहां ऊपर-नीचे शब्द दिशा के सूचक नहीं है अपितु ऊपर का अर्थ है उत्कृष्ट कोटि का और नीचे का अर्थ है निम्न कोटि का। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि का मूल ब्रह्म है जो उत्कृष्ट है। शाखायें प्रकृति के रूप में इसब्रह्म का विस्तार है। इस जड प्रकृति की प्राणशक्ति ब्रह्म है इसलिए प्रकृति ब्रह्म से निम्न कोटि की है। वेदसहित सभी विद्यायें इस अविनाशी वृक्ष के पत्तों के समाना हैं। वेदों का उद्देश्य सृष्टि, जीव और ब्रह्म का ज्ञान देना है। इस बात को भगवान ने इस रूप में कहा है कि इस प्रतीक वृक्ष के पीछे छिपा संदेश जो व्यक्ति समझ लेता है वह मानो वेद को समझ लेता है।

अगले तीन श्लोकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पीपल का पेड़ वास्तविक पेड़ नही है बल्कि एक प्रतीक है:

अधश्चोर्ध्वं प्रसूलास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।२।

भावार्थ : इस वृक्ष की शाखायें नीचे-ऊपर फैली हुई है। ये शाखायें सतोगुण,

रजोगुण और तमोगुण से पोषित है। इंद्रियों के पांचों विषय इन शाखाओं की कोपलें हैं। इन शाखाओं के ऊपर-नीचे फैलने का कारण मनुष्य लोक मे किये गए कर्मों के बंधन है: २

व्याख्या : मनुष्य योनि कर्मयोनि है क्योंकि इसी योनि में कर्म करने और कर्मों का फल पाने का अधिकार है। शेष योनियां मनुष्य योनि में किये गए कर्मों के पुरस्कार या सजा पाने के कारण से हैं। ऊपर की शाखायें देव योनियां है। मध्य की शाखायें मनुष्य योनिया है, और नीचे की शाखायें मनुष्य से निम्नकोटि के जीवों की योनियां हैं। ये शाखायें प्रकृति के तीनों गुणों से पोषित होती हैं। ज्ञानेंद्रियां इनकी उपशाखायें हैं।

इस वृक्ष के उदाहरण से भगवान ब्रह्म के विस्तार को समझाने का यत्न कर रहे है। अगले दो श्लोकों में वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस वृक्ष का वर्णन मैंने अलंकार के रूप में किया है।

न रूपमश्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल—
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा। ३।
ततः पद तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी। ४।

भावार्थ : संसार रूपी जिस वृक्ष का जैसा वर्णन किया गया है, उस रूप वाला वृक्ष पाया नहीं जाता क्योंकि उसका न तो आदि दिखाई देता है, न आधार और न ही अंत। दृढ़ मूल वाले इस वृक्ष को अनासक्ति रूपी शस्त्र से काटकर उस स्थान की खोज करनी चाहिए, जहां पहुंचकर फिर नहीं लौटना होता। खोज करते समय यह संकल्प मन में धारण करना चाहिए कि मैं आदि पुरुष परमात्मा की शरण में जाता हूं: ३, ४

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै–
र्गच्छत्त्वमूढाः परमव्ययं तत्। ५।

भावार्थ : अहंकार और मोह का जिन्होंने त्याग कर दिया है, प्रिय जनों में आसक्ति को जो दोष मानते हैं, अध्यात्म ज्ञान में जो सदा स्थिर हैं जिनकी कामनायें पूर्णरूप से शांत हो गयी हैं, जो सुख-दुःख जैसी भावनाओं से मुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी जन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त करते हैं: ५

परम पद का अनुभव कैसा है?

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। ६।

भावार्थ : मेरा परमधाम स्वयं प्रकाशित है। सूर्य, चंद्र और अग्नि के प्रकाश की वहां आवश्यकता नहीं है। वहां पहुंचकर आत्मा फिर जन्म-मरण के बंधन में नहीं पड़ती: ६

देह और आत्मा का संबंध और विछोह कैसे?

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।७।

भावार्थ : शरीर रूपी लोक में यह जीवात्मा मेरा सनातन अंश है। यह त्रिगुणमयी प्रकृति में स्थिर होकर पांचों इंद्रियों तथा मन को आकृष्ट करता है: ७

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।८।

भावार्थ : जैसे वायु एक स्थान से गंध लेकर दूसरे स्थान पर जाती हैवैसे ही देह का स्वामी जीवात्मा जिस शरीर का त्याग करता है, उसी शरीर से मन तथा पांचों इंद्रियों को लेकर दूसरा शरीर प्राप्त करता है: ८

व्याख्या : यहां पांच इंद्रियों से आशय पांच ज्ञानेद्रिया हैं, छठी इंद्रिय मन है। सूक्ष्म जीवात्मा ज्ञानेंद्रियों और मन को लेकर देह से निकलता दिखाई नहीं पड़ता, न ही नयी देह में प्रवेश करता हुआ दिखता है। यह प्रक्रिया किस प्रकार होती है, इसका उत्तर प्राचीन शास्त्रों से इस प्रकार मिलता है:

स्थूल इंद्रियों और स्थूल देह को कार्य शरीर कहते हैं। यह कार्य शरीर गर्भ धारण करने के बाद की अवस्था है। इस कार्य शरीर से पूर्व की अवस्था को कारण शरीर कहते हैं। इस कारण शरीर में पांचभौतिक शरीर और पांच भूतों से संबंधित ज्ञानेंद्रियों की सभी संभावनायें विद्यमान रहती हैं। ज्ञानेद्रियों से संबंधित संभावनाओं को सांख्य शास्त्र में 'तन्मात्र' कहते हैं। यही तन्मात्र स्थूल रूप में ज्ञानेंद्रियों के विषय कहलाते हैं।

सांख्य, वैशेषिक और न्याय, इन तीनों दर्शनों के आधार पर कविराज उपेंद्रनाथ दास ने अपनी पुस्तक 'पँचभूत विज्ञान' में तन्मात्र से पंच महाभूतों के बनने की जो प्रक्रिया लिखी है, उसे संक्षिप्त रूप से हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

पहला तन्मात्र 'शब्द' है। यह तन्मात्र आकाश सहित अन्य तत्त्वों से मिलकर कान नामक ज्ञानेंद्रिय की रचना करता है। इससे प्राणी में सुनने की क्षमता बनती है।

दूसरा तन्मात्र 'स्पर्श' है। यह सृष्टि से वायु तत्त्व को माध्यम बनाकर त्वचा नामक ज्ञानेंद्रिय की रचना करता है। इस इंद्रिय के माध्यम से जीवात्मा को शीतल, उष्ण, कोमल खुरदरे स्पर्श की अनुभूति होती है।

तीसारा तन्मात्र 'रूप' है। यह सृष्टि के अग्नि तत्व के माध्यम से नेत्र नामक ज्ञानेंद्रिय को विकसित करता है। इससे जीव को अंधेरे, उजाले, रंगों तथा आकृतियों का ज्ञान होता है।

चौथा तन्मात्र 'रस' है। यह सृष्टि के जल तत्त्व को माध्यम बनाकर रसना नामक ज्ञानेंद्रिय की सृष्टि करता है। मीठा, खट्टा, कडुवा, कसैला आदि रसों का अनुभव इसी रसना द्वारा जीव हो होता है।

पांचवा तन्मात्र 'गंध' है। यह सृष्टि के पृथ्वी तत्त्व को आकृष्ट करके नासिका नामक ज्ञानेंद्रिय बनाता है। इससे जीव को सुगंध, दुर्गंध का ज्ञान होता है।

कविराज उपेंद्रनाथ दास के इस निष्कर्ष के उपरांत आगे की प्रक्रिया हमारे मतानुसार इस प्रकार है:

जीवात्मा तथा इंद्रियों के मध्य मन सेतु का कार्य करता है। जन्मभर के संस्कार मन पर अंकित होते हैं। मस्तिष्क में जो कार्य स्मृति-केंद्र करते हैं उनमें से मुख्य-मुख्य

स्मृतियों के सूक्ष्म रूप को संस्कार कहते हैं।

कंप्यूटर युग की भाषा में संस्कारों को हमें जन्मभर के ज्ञान और स्मृतियों की फ्लापी (floppy) कह सकते हैं। मन के साथ ये संस्कार जीवात्मा के साथ जाते हैं और नये जन्म के उपरांत अवसर पाकर प्रकट हो जाते है।

ये सभी तन्मात्र इतने सूक्ष्म होते हैं कि मन तथा जीवात्मा के साथ यात्रा करते हुए देखे नहीं जा सकते। आधुनिक विज्ञान ने सूक्ष्म परमाणु (Atom) और उसके खंड, इलैक्ट्रान (Electron), प्रोटान (Proton), न्यूट्रान (Neutron) को तथा जीन्स (Genes) और इसके विभागों को देखने के यंत्र विकसित कर लिये हैं किंतु आत्मा, मन तथा उससे संलग्न तन्मात्राओं के सम्मिलित रूप को देखने के यंत्र अभी विकसित नहीं किये हैं। अंतर्दृष्टि और साधना द्वारा उनका अनुभव किया जा सकता है।

जब आत्मा नयी देह प्राप्त कर लेती है, तब ये सूक्ष्म तन्मात्र स्थूल इंद्रियों का रूप धारण कर लेते हैं। उसके बाद की स्थिति के विषय में भगवान अगले श्लोक में बताते हैं:

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।९।

भावार्थ : यह जीवात्मा मन को माध्यम बनाकर कान, आख, त्वचा, रसना तथा नासिका के सहारे विषयों का उपभोग करता है: ९

उत्क्रामन्तं, स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।१०।

भावार्थ : यह जीवात्मा, शरीर का कैसे त्याग करता है? नये शरीर में कैसे स्थित होता है? इंद्रियों के विषयों को कैसे भोगता है? प्रकृति के तीन गुणों, के संपर्क में कैसे आता है? इसे मुढ़जन नहीं देख सकते। यह सारी प्रक्रिया ज्ञान-चक्षुओं से देखी जा सकती है। अर्थात् ज्ञान द्वारा समझी जा सकती हैं: १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यज्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।११।

भावार्थ : साधना में यत्नपूर्वक लीन हुए योगी जन अपने शरीर में स्थित आत्मा का साक्षात्कार कर लेते है। जिनका अंतःकरण शुद्ध नहीं है, वे अज्ञानी जन यत्न करने पर भी आत्मा का अनुभव नहीं कर पाते: ११

भगवान ब्रह्मांड में भी, पिंड में भी

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।१२।

भावार्थ : संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाले सूर्य, चंद्रमा और अग्नि का तेज मेरा तेज है, इस यथार्थ को तू जान ले: १२

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजमा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।१३।

भावार्थ : पृथ्वी में समाकर मैं सभी जड़ चेतनादि जीवों को अपने बल से थामे रखता हूं। मैं ही रसस्वरूप चंद्रमा के द्वारा सभी वनस्पतियों को पुष्ट करता हूं: १३

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।१४।

भावार्थ : मैं ही प्राणियों के शरीरों में जठराग्नि बनकर प्रविष्ट होता हूं। मैं ही प्राण और अपान वायु से मिलकर चारों प्रकार के अन्न पचाता हूं: १४

व्याख्या : प्राण भीतर ली जाने वाली श्वास है, अपान बाहर छोड़ी जाने वाली नि:श्वास है। आक्सीजन युक्त प्राण भीतर की अग्नि को प्रज्वलित करके चार प्रकार के अन्न पचाती है। इस प्रक्रिया से मल युक्त होने वाली वायु नि:श्वास द्वारा निकलकर शरीर को शुद्ध कर देती है।

भगवान ने चार प्रकार के अन्न पचाने की बात कही है। वे चार प्रकार हैं: भक्ष्य, चोष्य, पेय तथा लेह्य। चबाकर खाये जाने वाले भोजन को 'भक्ष्य' कहते हैं। गन्ना आदि खाद्य पदार्थ, जिन्हें चूसा जा सके, वे 'चोष्य' कहलाते हैं। पानी आदि पिये जाने वाले पदार्थों को 'पेय' कहते हैं। शहद आदि पदार्थ जिन्हें चाटा जा सके, वे 'लेह्य' कहलाते हैं।

श्वास-नि:श्वास के साथ-साथ भोजन पचाने की ये सारी क्रियायें शरीर में स्थित जीवात्मा के कारण होती हैं। यह जीवात्मा शरीर में स्थित भगवान है। जीवात्मा के रूप में भगवान शरीर में स्थित होकर और क्या-क्या करते हैं, यह अगले श्लोक में भगवान बताते हैं:

सर्वस्य चाहे हृदि संनिविष्टो
मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वेरहमेय वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।१५।

भावार्थ : मैं ही सबके हृदय में स्थित हूं। मेरी उपस्थिति के कारण प्राणी में स्मृति और ज्ञान होता है। मेरे कारण से प्राणी में तर्कशक्ति उगैर विश्लेषण-शक्ति है। वेद विद्याओं द्वारा जानने योग्य मैं हूं। मैं ही वेदांत शास्त्र का निर्माण करने वाला हूं। मैं ही वेदों को जानने वाला हूं: १५

त्रैत सिद्धांत

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।१६।

भावार्थ : संसार में नाशवान और अविनाशी, ये दो पुरुष हैं। उनमें प्राणियों के शरीर नाशवान हैं, उनमें स्थिरता से स्थित जीवात्मा अविनाशी हे: १६

व्याख्या : सामान्यत: भारतीय शास्त्रों में चेतन तत्त्व को पुरुष कहा गया है और जड़ तत्त्व को प्रकृति कहा गया है। यह द्वैतवाद है। अद्वैतवाद का कहना है कि सकल विश्व में दो तत्त्व नहीं हैं। अकेला ब्रह्म ही सारी सृष्टि में व्याप्त है। उसीके चेतन भाग को सांख्य ने पुरुष कहा है। उसी ब्रहा के जड भाग को सांख्य ने प्रकृति कहा हैं। यहां भगवान जड़ और चेतन, इन दोनों को दो प्रकार के पुरुष बता रहे हैं। भगवान का यह कथन उनके अवतार काल में प्रचलित एक अन्य विचारधारा की सूचना देता है, जो द्वैत और अद्वैत विचारधारा से अलग है। यह त्रैत विचारधारा है जिसका विवरण अगले श्लोकों में भी जारी है।

उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर:।१७।

भावार्थ : इन दोनों पुरुषों से सर्वोपरि पुरुष कोई अन्य है जो तीनों लोकों में व्याप्त

होकर सबका भरण-पोषण करता है। वह अविनाशी परमात्मा है: १७

व्याख्या : वह सर्वोपरि पुरुष कौन है, उसका उत्तर भगवान अगले श्लोक में देते हैं:

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।१८।

भावार्थ : मैं नाशवान जड़ पदार्थों से उत्तम हूं और अविनाशी आत्मा से भी ऊंचा हूं इसलिए लोको में तथा वेद में पुरुषोत्तम कहा जाता हूं: १८

यो: मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।१९।

भावार्थ : हे भरतवंशी अर्जुन, जो ज्ञानी मुझे पुरुषोतम मानता है, वह सब कुछ जानता है और मुझे हर विधि से भजता है: १९

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।२०।

भावार्थ : हे निष्पाप अर्जुन, यह अति गोपनीय शास्त्र मैंने तुझे कहा है, इसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है: २०

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पन्चदशोऽध्यायः॥१५॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'पुरुषोतम योग' नामक पंद्रहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

सोलहवां अध्याय

दैवासुर संपद् विभाग योग

हम चल संपत्ति (Movable Property) तथा अचल संपत्ति (Immovable Property) के विषय में जानते है। ये दोनों प्रकार की संपत्तियां हमें इस जन्म में आर्थिक सुरक्षा का आवश्वासन देती हैं किंतु ये दोनों प्रकार की संपत्तियां देह छोड़कर जाते समय जीवात्मा का साथ नहीं देतीं। भगवान इस अध्याय में इन दोनों सांसारिक संपत्तियों से अलग दो प्रकार की संपदाओं के विषय में बता रहे हैं जो देह त्यागने के उपरांत जीवात्मा के साथ जाती हैं। एक का नाम है दैवी संपद्, दूसरी का आसुरी संपद्।

आस्तिक-नास्तिक, अध्यात्मवादी-भौतिकवादी, इन दोनों प्रकार के व्यक्ति समाज में सदा से रहे हैं। दैवी संपद् से युक्त व्यक्तियों को हम आध्यात्मिक जन कह सकते हैं, आसुरी संपद् से युक्त जनों को हम भौतिकवादी कह सकते हैं।

प्रकृति के तीन गुणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि दैवी संपद् से युक्त लोगों में सतोगुण प्रबल होता है, आसुरी संपद् से युक्त जनों में रजोगुण प्रबल होता है। तमोगुणी जनों का उल्लेख इस अध्याय में भगवान ने नहीं किया है क्योंकि उनमें न तो सतोगुणियों जैसी विचार-शक्ति होती है, न ही रजोगुणियों जैसी क्रिया-शक्ति होती है। अज्ञान के कारण वे अपनी हीन स्थिति से अनभिज्ञ होते हैं। उनमें अपनी निम्न स्थिति से उबरने की इच्छाशक्ति भी नहीं होती।

इस अध्याय के आरंभिक तीन श्लोकों में भगवान दैवी संपदाओं का उल्लेख कर रहे हैं :

दैवी संपद् से युक्त व्यक्तियों की विशेषतायें

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। १।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्। २।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत। ३।

भावार्थ : निर्भयता, अतःकरण की शुद्धता, ज्ञान-प्राप्ति के लिए एकाग्रता, दानवीरता, इंद्रियों का संयम, यज्ञभावना, सद्विचारों का पठन तथा मनन, सद्कार्यों के लिए कष्ट सहने की प्रवृत्ति, कथनी करनी में भेद न रखना, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग भावना, मानसिक शांति, निंदा न करने की प्रवृत्ति, सभी प्राणियों के लिए दयाभाव, इंद्रियलोलुपता का न होना, व्यवहार में कोमलता, बुरे कार्यों से संकोच, चंचलता का अभाव, तेजस्विता, क्षमाशीलता, धीरता, पवित्रता, द्वेषरहित होना, तथा अपनी पूज्यता का अभिमान न करना, हे भरतवंशी अर्जुन, दैवी सपद् से युक्त व्यक्ति ये सद्गुण लेकर उत्पन्न होते हैं: १, २, ३

दैवी और आसुरी संपद का फल

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।४।

भावार्थ : आसुरी स्वभाव लेकर उत्पन्न हुए व्यक्ति में ये अवगुण होते है: ढोंग, उद्दंडता, अभिमान, क्रोध, कठोर वचन बोलना और अज्ञान: ४

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुच: संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।५।

भावार्थ : देवी संपद् जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति दिलाती है और आसुरी संपद् जन्म-मरण कि बंधन में बांधती है किंतु है पांडुपुत्र, तू निश्चित रह क्योंकि तू दैवी संपदा लेकर उत्पन्न हुआ है: ५

व्याख्या : आसुरी संपदायें और भी हैं, जिनका विवरण इस अध्याय में भगवान आगे दे रहे हैं। इस समय भगवान अर्जुन को मुख्य-मुख्य आसुरी सपदायें और उनका फल बताकर उसको यह आश्वासन दे रहे हैं कि तुझे चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तू दैवी सपद् से संपन्न हैं। यह आश्वासन इसलिए आवश्यक है कि आरँभ में दैवी संपद की लंबी सूची देखकर अर्जुन के मन में कहीं यह हीनता का भाव उत्पन्न न हो जाये कि मुझमें तो इतने सारे सद्गुण नहीं हैं, मैं कैसे मुक्त होऊंगा?

अर्जन रजोगुणी स्वभाव का हैं, किंतु उसमें जानने की प्यास भी है, जो सतोगुण की विशेषता है, तभी तो वह भगवान से प्रश्न कर-करके कुरेद रहा है कि यथार्थ क्या है। अर्जुन के प्रश्नों का परिणाम भगवद्गीता हमारे हाथ में है।विपरीत इसके आसुरी स्वभाव के व्यक्ति में ज्ञान की जिज्ञासा बिलकुल नहीं होती, किसीसे कुछ पूछने में उसे हेठी का अनुभव होता है। अर्जुन के माध्यम से भगवान ने सभी को यह आश्वासन दिया है कि यदि किसी व्यक्ति में दैवी संपद् के सभी गुण न हों, इनमे से अधिकतर हों, तो भी मुक्ति संभव है।

द्यौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु।६।

भावार्थ : हे पार्थ, इस संसार में दैवी और आसुरी, दो स्वभाव वाले व्यक्ति हैं। उनमें से दैवी स्वभाव के व्यक्तियों के विषय में मैं विस्तार से कह चुका हूं, अब आसुरी स्वभाव का विवरण भी मुझसे सुन: ६

आसुरी स्वभाव के व्यक्ति कैसे होते हैं?

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।७।

भावार्थ : आसुरी स्वभाव के व्यक्ति न तो यह जानते हैं कि क्या करना उचित है, न ही यह जानते हैं कि क्या न करना उचित है। उनमें न तो पवित्रता होती है, न ही आचरण की शुद्धता होती है। उनके कथन में सच्चाई भी नहीं होती: ७

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।८।

भावार्थ : आसुरी प्रवृति के व्यक्ति इस संसार का कोई आधार नहीं मानते, वे किसी ईश्वर को नहीं मानते। वे मानते हैं कि स्त्री-पुरुष के संयोग से यह सृष्टि हुई है। कामना पूरी करने को ही वे इस संसार का उद्देश्य मानते हैं: ८

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।९।

भावार्थ : इस दृष्टिकोण के व्यक्ति भ्रष्ट हैं। वे अल्पबुद्धि वाले हैं। वे क्रूरकर्मी हैं। वे सबका अपकार करने वाले हैं। वे जगत् का नाश करने के लिए उत्पन्न होते हैं: ९

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।१०।

भावार्थ : वे ढोंगी होते हैं और अभिमान के नशे में धुत् रहते हैं। उनकी कामनायें कभी तृप्त नहीं होती। उनका आग्रह अज्ञान पर आधारित होता है। उनका आचरण अपवित्र होता है: १०

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।११।

भावार्थ : उनकी चिंतायें असीम होती हैं जो मृत्युपर्यंत समाप्त नहीं होती। वे भोग-विलास को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं: ११

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।१२।

भावार्थ : वे आशाओं की सैकड़ों रस्सियों में जकड़े रहते हैं। वे काम-क्रोध में तल्लीन रहते है। भोग-विलास के लिए वे अनैतिक साधनों द्वारा धन संचय करने का यत्न करते है: १२

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।१३।

भावार्थ : उन व्यक्तियों के विचार इस प्रकार के होते हैं कि आज मैंने यह पा लिया है, अब अन्य मनोकामना पूरी करूंगा। इतना धन मेरे पास है, भविष्य में इतना और बढ़ जायेगा: १३

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽह बलवान्सुखी।१४।

भावार्थ : उनकी चाह इस प्रकार की होती है कि अमुक शत्रु को मैंने मारा है, अन्यों को भी मार डालूंगा। मैं ईश्वर हूं, मैं ऐश्वर्य का भोग करने वाला हूं, मैं अलौकिक शक्तियों वाला हूं। मैं बलवान हूं। मैं सुखी हूं: १४

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।१५।

भावार्थ : मैं धनवान हूं। मेरा कुल ऊंचा है। मेरे समान अन्य कोई नहीं है। मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, प्रसन्न रहूंगा, इस प्रकार के अज्ञान से आसुरी स्वभाव के व्यक्ति मोहित रहते हैं: १५

व्याख्या : यज्ञ कुरना, दान देना, शुभ कर्म हैं किंतु आसुरी स्वाभाव के व्यक्ति 'इदं न मम' अर्थात् 'यह मेरा नहीं है', ऐसी भावना से यज्ञ और दान नहीं करते अपितु दिखावे के लिए करते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।१६।

भावार्थ : इस प्रकार के विचारों में भटके हुए वे अज्ञानी जन मोहजाल में फंसे

रहते हैं और वे विषय-भोगों में डूबकर अपवित्र नरक में जा पड़ते हें: १६

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।१७।

भावार्थ : अपने-आपको श्रेष्ठ मानने वाले वे घमंडी जन धन और मान के नशे में चूर होकर जो यज्ञ करते हैं, वह दिखावे के लिए होता है। ऐसा यज्ञ शास्त्र-विधि के अनुसार नहीं होता: १७

अहंकारं बलं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।१८।

भावार्थ : अहंकार, बल, अभिमान, काम और क्रोध से युक्त और दूसरों की निंदा करने वाले वे मुझसे भी द्वेष करते है, जो उन सबके अंतर में बसता है। वे मुझमें भी दोष ढूंढते हैं: १८

आसुरी स्वभाव के व्यक्ति की गति क्या होती है?

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।१९।

भावार्थ : उन ईश्वरद्वेषियों को, क्रूरों को, पापी जनों को, नीच जनों को मैं बार-बार आसुरी योनियों में डालता रहता हूं: १९

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो याज्यधमां गतिम्।२०।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, वे मूढ़ जन आसुरी योनियों में बार-बार जन्म लेकर मुझे प्राप्त नहीं कर सकते और निरंतर अधम अवस्था को पहुंचते रहते हैं: २०

व्याख्या : यह आसुरी योनि कोई विशंष जीव जाति (species) नहीं है बल्कि तात्पर्य उन परिवारों में जन्म लेना है जहां आसुरी प्रवृति के लोग पहले से हैं।

यहां यह प्रश्न उपजता है कि क्या आसुरी स्वभाव से मुक्ति पाने का कोई रास्ता है? इस संभावित प्रश्न का उत्तर भगवान अगले श्लोक में दे रहे हैं:

आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों की सद्गति का उपाय

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।२१।

भावार्थ : काम क्रोध, और लोभ, ये तीन नरक के द्वार हैं। ये तीनों द्वार आत्मा को अधोगति की ओर ले जाते हैं। इन तीनों भाव अवस्थाओं का त्याग करना चाहिए: २१

व्याख्या : सामान्यत: काम शब्द का सीमित अर्थ 'सैक्स' लगाया जाता है, किंतु व्यापक अर्थों में काम का अर्थ कामना है। निष्काम, सकाम आदि शब्द कामना की व्यापकता की ओर संकेत करते हैं किंतु अधिकतर लोगों को 'काम' को सैक्स तक सीमित रखने में सुविधा होती है। इससे उन्हें धन, पद, यश आदि पाने की कामनाओं की खुली छूट मिल जाती है। काम को इस सीमित अर्थ में प्रयोग करना सत्य की व्यापकता की अनदेखी करना है।

कामना धन की हो, पद की हो या सैक्स की हो, किसी भी प्रकार की कामना जब निरकुंश हो जाती है तो वह अधोगति की ओर ले जाती है।

नरक के तीन द्वारों में भगवान ने काम को पहला स्थान दिया है। यह इसलिए कि कामना के पूरा होने से लोभ उपजता है और व्यक्ति और बड़ी कामना की पूर्ति करने की ओर बढने लगता है। अंतहीन लोभ मानव को पशु जैसा बना देता है। कामना-पूर्ति में बाधा आने से क्रोध उपजता है, क्रोध के आवेश में व्यक्ति अंधा होकर कूर बन जाता है, उसका फल की अधोगति है।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।२२।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, इन तीनों प्रकार के अँधकार की ओर ले जाने वाली भावनओं से मुक्त होकर व्यक्ति अपना कल्याण करता है और उत्तम गति प्राप्त करता है: २२

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।२३।

भावार्थ : जो व्यक्ति शास्त्र के नियमों को छोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करता है, वह न तो सुख पाता है, न सिद्धि पाता है, न ही परम गति प्राप्त करता है: २३

उचित-अनुचित का निर्णय कैसे?

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।२४।

भावार्थ : क्या करना उचित है, क्या अनुचित है, इस विषय में जब उलझन में पड़ो तो ठीक निर्णय तक पहुंचने के लिए शास्त्र को प्रमाण मानकर उसके अनुसार कर्म करो: २४

व्याख्या : कामना के अनुसार चलना पशु नियम है। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनी कामना की पूर्ति करने के लिए नैतिक नियमों की अवहेलना करता है तो समाज में अराजकता फैल जाती है। इसलिए भगवान ने अनिर्णय की स्थिति आने पर शास्त्र को प्रमाण मानने का आदेश दिया है।

यहां भगवान नें यह नहीं कहा कि किस युग के शास्त्र प्रमाण हैं। शास्त्र उन्हें कहना चाहिए जो युग की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक युग के मनीषियों ने निष्कर्ष रूप में लिखे हैं, या कहे हैं। यह इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति सभी विषयों का पारंगत नहीं हो सकता। एक क्षेत्र में पूर्णता पाने के लिए अन्य क्षेत्रों की अनदेखी हो जाती है। अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर के विषय में शंका उपजने पर हमें चाहिए कि उस विषय के विद्वान से संपर्क करें। जैसे स्वास्थ्य के विषय में जटिलता उत्पन्न होने पर हम चिकित्सक से परामर्श लेते हैं, वैसे ही अध्यात्म के विषय में अनिश्चय की स्थिति आने पर हमें उस विषय के मनीषियों के आदेशों का पालन करना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि मनीषी किसे मानें? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। इस अध्याय के आरंभिक तीन श्लोकों में दैवी संपद् से युक्त व्यक्ति के जो लक्षण भगवान ने बताये हैं, उन्ही लक्षणों से युक्त व्यक्ति मनीषी हैं, वे ही मार्ग दर्शन कराने के लिए उपयुक्त हैं।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'दैवासुर संपद् विभाग योग' नामक सोलहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

सत्रहवां अध्याय

श्रद्धात्रय विभाग योग

श्रद्धा मन के लिए गुरुत्वाकर्षण शक्ति जैसी है। हमारे शरीर को पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ने थामा हुआ है, किंतु मानसिक संतुलन कों श्रद्धा बनाये रखती है। बिना श्रद्धा के व्यक्ति डांवांडोल रहता है।

विज्ञान के किसी नियम पर श्रद्धा हो सकती है, किसी राजनैतिक वाद में हो सकती है, किसी कलाकार के प्रति हो सकती है किंतु महर्षि अरविंद के कथनानुसार वास्तविक श्रद्धा वह है जो मानव को सत्य की खोज जारी रखने के लिए प्रेरित करती है। तात्पर्य यह है कि उच्च आदर्श के प्रति अटूट विश्वास ही वास्तविक श्रद्धा है। गलत आदर्श के प्रति होने वाला विश्वास श्रद्धा नहीं कहा जा सकता है।

जैसा व्यक्ति, वैसी उसकी श्रद्धा, अत: व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार उसकी श्रद्धा की दिशा निश्चित होती है, यही इस अध्याय का मूल विषय है। चौदहवें अध्याय से इस विषय का संबंध भी है। चौदहवें अध्याय में 'गुणत्रय विभाग योग' के विषय में भगवान ने जो कुछ सिद्धांत के रूप में, बताया है, इस अध्याय में उसका व्यावहारिक पक्ष बता रहे है।

'ॐ तत् सत्' यह शब्द-समूह वैदिक काल में प्रचलित था, श्रीकृष्ण के लीला काल में यह लुप्त हो गया था। इस अध्याय में भगवान ने इस शब्द-समूह की आवश्यकता बताई है, उसकी व्याख्या भी की है।

पिछले अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान ने कहा कि जब अनिश्चय की स्थिति हो कि क्या करना उचित है, क्या न करना उचित है तो शास्त्र को प्रमाण मानो। यह कहकर भगवान ने शास्त्र पर श्रद्धा रखने का आदेश दिया है, भगवान के इस आदेश से अर्जुन का यह प्रश्न उपजा है:

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, हे श्रीकृष्ण, जो व्यक्ति शास्त्र विधि को त्यागकर श्रद्धापूर्वक यज्ञ, पूजन करते हैं उनकी श्रद्धा सतोगुणी है, रजोगुणी है या तमोगुणी है: १

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु।२।

भावार्थ : भगवान बोले, देहधारियों के स्वभाव से उत्पन्न तीन प्रकार की श्रद्धा होती है। ये तीन प्रकार हैं—सतोगुणी श्रद्धा, रजोगुणी श्रद्धा और तमोगुणी श्रद्धा। इनके विषय में तू मुझसे सुन: २

प्रकृति के तीन गुण श्रद्धा में अपना रंग भरते हैं

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषों यो यच्छ्रद्धः स एव सः।३।

भावार्थ : है भरतवंशी अर्जुन, प्रत्येक व्यक्ति की श्रद्धा उसके अंतःकरण के अनुसार

होती है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह व्यक्ति स्वयं होता है: ३

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसा:।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जना:।४।

भावार्थ : सतोगुणी जन देवताओं को पूजते हैं, रजोगुणी जन यक्ष और राक्षसों की पूजा करते है तथा तमोगुणी जन प्रेतों और भूत गणों को पूजते हैं: ४

व्याख्या : जिस प्रकार हम अपनी रुचि के अनुसार मित्र चुनते हैं, उसी प्रकार अपनी रुचि के अनुसार अपने आराध्य इष्ट चुनते हैं।

देवता उन्हें कहते हैं जिनमें परमात्मा की विशेष दिव्य शक्तियां होती हैं। वे देवता सात्त्विक जनों के आराध्य होते हैं। यक्ष गण कुबेर के धनरक्षक हैं और राक्षस गण भौतिक साधनों के आकांक्षी होते हैं। राजसिक जनों की श्रद्धा इन्हीं दोनों वर्गों पर टिकती है।

प्रेत वे आत्मायें हैं जिन्होंने पिछला शरीर त्याग दिया है किंतु उन्हें नया शरीर नहीं मिला है और भूत से अभिप्राय वह पांचभौतिक देह है जिसे आत्मा छोड़ गयी है। शरीरविहीन अतृप्त आत्मायें अपनी भौतिक देह के ईर्दगिर्द मंडराती हैं। मरघट में साधना करने वाले इन्हीं शरीरविहीन किंतु देहप्रेमी आत्माओं को सिद्ध करने के लिए अनुष्ठान करते हैं ताकि उन्हें स्वयं कुछ न करना पड़े, भौतिक देह के गिर्द मंडराती प्रेतात्माओं को सिद्ध करके काम निकलवाये जाये। इस सिद्धि में वे सफल होते हैं अथवा नहीं, यह अलग विषय है, किंतु ऐसी साधनायें तमोगुणी जनों की रुचि के अनुकूल होती हैं। उन्हें पकी-पकाई रोटी मिलनी चाहिए, चाहे पकी-पकाई पाने में उन्हें पकाने से अधिक कष्ट सहना पड़े।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जना:।
दम्भाहंकारसंयुक्ता: कामरागबलान्विताः।५।
कर्शयन्त: शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान्

भावार्थ : जो व्यक्ति कामनाओं की पूर्ति के लिए, शास्त्रों के विरुद्ध, ढोंग, बल और अहंकार के साथ घोर तप करते हैं, वे अज्ञानी हैं और आसुरी स्वभाव वाले हैं। वे अपने पांचभौतिक शरीर को भी यंत्रणा देते हैं, और शरीर में टिके मुझ परमात्मा को भी कष्ट देते हैं: ५, ६

व्याख्या : एक टांग पर खड़े होकर अथवा उल्टे लटककर, या गर्मियों में कंबल ओढकर या सर्दियों में रेत पर नंगे बैठकर कुछ लोग तपस्या करते हैं, ऐसे तपों का भगवान निषेध कर रहे हैं क्योंकि ऐसे तप आत्मसाधना की अपेक्षा कामनापूर्ति के लिए या प्रदर्शन के लिए या अहंकार के पोषण के लिए किये जाते हैं।

आहारस्वपी सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रिय:।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिम श्रृणु।७।

भावार्थ : भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके भेद सुन: ७

व्याख्या : यहां भगवान श्रद्धा के विषय से तनिक हटकर भोजन आदि अन्य विषयों पर आ गये हैं। यह इसलिए कि जैसा आहार वैसा विचार, इस कहावत का एक दूसरा रूप भी है कि जैसा विचार, वैसा आहार। इस विषय को भगवान अगले श्लोकों में

बता रहे है।

पहले भोजन के विषय में:

आयुःसत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धना:
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्त्विकप्रिया:।८।

भावार्थ : ऐसे आहार जो आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, स्वास्थ्य, सुख और उल्लास बढ़ाने वाले हो; रसयुक्त, चिकने, पौष्टिक और रुचिकर हो, और जो शरीर की नीरोग स्थिति को बनाये रखें, वे सतोगुणी जनों को प्रिय होते हैं: ८

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन:।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।९।

भावार्थ : कड़वे, खट्टे, खारे, बहुत गर्म, तीखे, रूखे और जलन पैदा करने वाले आहार, जो बाद में दुःख, रोग और पश्चात्ताप देते हैं, वे रजोगुणी जनों को प्रिय होते हैं: ९

व्याख्या : पान, सुपारी, तंबाकू, शराब आदि कडुवे, कसैले होते हैं फिर भी कुछ जनों को प्रिय होते हैं। खारे और तीखे से तात्पर्य चटपटे और मसालेदार भोजनों से है। ये सब उदर में अम्लता (Acidity) बढ़ाते है। चटपटे होने के कारण अधिक लिये जाते हैं, जिनसे रोग बढ़ते हैं। रोग से दुःख बढ़ते हैं और व्यक्ति उस समय पश्चात्ताप करता है कि स्वाद के कारण क्यों इतना खा गया?

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।१०।

भावार्थ : अधपका, नीरस, दुर्गंधयुक्त, बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तमोगुणी जनों को प्रिय होता है: १०

तीन प्रकार के यज्ञ

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मन: समाधाय स सात्त्विक:।११।

भावार्थ : यज्ञ करना कर्तव्य है, यह मानकर मन को एकाग्र करने के लिए तथा फल की इच्छा न रखकर विधिपूर्वक किये जाने वाले यज्ञ सात्त्विक हैं: ११

अभिसंधाय तु फलं अम्भर्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञ विद्धि राजसम्।१२।

भावार्थ : हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, जो यज्ञ फल पाने की इच्छा से किया जाता है, अपना महत्त्व दिखाने के लिए किया जाता है, ऐसे यज्ञ को तू राजसिक जान: १२

विधिहीनमसृष्टात्रं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञ तामसं परिचक्षते।१३।

भावार्थ : जिस यज्ञ को करते समय किसी शास्त्र विधि की पालन नहीं किया जाता, अन्नदान नहीं किया जाता, मंत्रपाठ नहीं होता, दक्षिणा नहींदी जाती और यज्ञ करते समय मन में श्रद्धा नहीं होती, ऐसे यज्ञ को तामसिक यज्ञ कहते हैं: १३

तप का विषय:

इस अध्याय के पांचवें, छठे श्लोक में भगवान ढोंग के तौर पर किये जाने वाले तप

का निषेध कर चुके हैं। यहां भगवान तप का वास्तविक रूप बता रहे हैं। तप से तात्पर्य है शुद्धि। शुद्धि तीन स्तरों पर होती है–शरीर की, वाणी की और मन की। भगवान तीनों स्तरों के शोधन के लिए तीन प्रकार के तप बताते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।१४।

भावार्थ : देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानी जनों का पूजन करना, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना, यह शरीर संबंधी तप कहलाता है: १४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।१५।

भावार्थ : ऐसी वाणी जो किसी को व्याकुल न करे, ऐसे सत्य जो प्रिय हों और हितकारी हों, सद्विचारों का कथन करना, ये सब वाणी के तप कहलाते हैं: १५

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्चते।१६।

भावार्थ : मन की प्रसन्नता और शांति, मनन, चिंतन, संयम, विचारों की पवित्रता, ये मानसिक तप कहलाते हैं: १६

व्याख्या : मन से, वचन से, कर्म से, इन तीन प्रकार से तपों की भूमिका के उपरांत अब भगवान प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार तीनों प्रकार के तपों का वर्णन करते हैं:

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिंविध नरैः।
अफलाकाङ्क्षभिर्युक्तैः सात्त्विकं, परिचक्षते।१७।

भावार्थ : कायिक, वाचिक और मानसिक, ये तीन प्रकार के तप यदि बिना किसी फल की इच्छा के, एकाग्रता से तथा श्रद्धायुक्त व्यक्तियों द्वारा किये जाते है तो उन्हें, सात्त्विक तप कहते हैं: १७

व्याख्या : क्रोध पर इसलिए संयम करना कि बाँस नाराज हो जायेगा, मीठा इसलिए बोलना कि काम निकालना है, किसी पुरस्कार या लोभवश किसी का पूजन करना, ऐसी क्रियायें सात्विक तप के अंतर्गत नहीं आतीं, हर एक से मीठा बोलना, बिना भेदभाव के हर एक से शुद्ध व्यवहार करना, ऐसे जीवन को सात्त्विक और तपस्वी जीवन कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।१८।

भावार्थ : ये तीनों प्रकार के तप, सत्कार और मान पाने, पूजन कराने या अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए किये जाते हैं तो वे राजसिक तप कहलाते हैं। उनका प्रभाव अस्थायी होता है: १८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।१९।

भावार्थ : ये तीनों प्रकार के तप, हठपूर्वक, स्वयं को कष्ट देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किये जाते हैं तो उन्हें तामसिक तप कहते हैं: १९

दान का विषय:

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेदुनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।२०।

भावार्थ : जो दान कर्त्तव्य भावना से किया जाता है, दान करते समय बदले में किसी उपकार की आशा नहीं की जाती है, जो दान देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, उसे सात्त्विक दान कहा जाता है: २०

व्याख्या : कर्त्तव्य भावना से आशय है कि व्यक्ति दान करते समय यह सोचे कि मुझे निरीह शिशु से बड़ा बनाने में समाज के प्रत्येक वर्ग का मुझ पर ऋण है, दान करके मैं उस ऋण से मुक्ति पा रहा हूं। ऐसा सोचकर दान करना कर्त्तव्य भावना से युक्त दान कहलाता है।

देश, काल और पात्र का विचार करना भी आवश्यक है। उत्तराखंड के ठंडे प्रदेश में आग तापने की अंगीठी देना, राजस्थान की मरुभूमि में ग्रीष्म काल में शीतल जल दिलाना यह देश, काल का विचार करके दान करना है। दान का वास्तविक पात्र वह जरूरतमंद है जिसे देने से उसका, उसके परिवार सहित कल्याण होगा। ऐसा सोचकर दान करना पात्र को दान करना है।

दान करते समय यह भावना हो कि मंदिर पर मेरे नाम से अंकित पत्थर लगेगा या वहां मुझे विशेष मान मिलेगा तो ऐसा दान उपकार की आशा से किया गया होता है। ऐसा दान सात्त्विक नहीं है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दीश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।२१।

भावार्थ : दान करते समय यदि व्यक्ति दबाव या कष्ट का अनुभव करे अथवा दान के बदले में कोई उपकार चाहे अथवा इस लोक या परलोक में मिलने वाले किसी फल की आशा रखे, ऐसे दान को राजसिक दान कहते हैं: २१

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।२२।

भावार्थ : जो दान देश, काल का विचार किये बिना कुपात्रों को दिया जाता है, दान करते समय दाता के मन में सत्कार भावना नहीं होती अपितु अनादरपूर्वक दिया जाता है, उसे तामसिक दान कहते हैं: २२

ॐ तत्स्त का विवेचन

यज्ञ, तप, दान करते समय भावना कैसी होनी चाहिए, उस समय किन शब्दों का उच्चारण करना चाहिए, यह सब भगवान अगले श्लोक में बता रहे हैं:

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रीविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।२३।

भावार्थ : ॐ, तत्, सत्, इन संकेताक्षरों से ब्रह्म का स्मरण किया जाता है। प्राचीन काल में इसी शब्द ब्रह्म से वेद, ब्राह्मण ग्रंथ और यज्ञ रचे गये: २३

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।२४।

भावार्थ : इसलिए ब्रह्मवादी जन ॐ का उच्चारण करके शास्त्रों के अनुसार यज्ञ, तप, दान आदि क्रियायें आरभ करते हैं: २४

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षभिः।२५।

भावार्थ : मोक्ष की इच्छा करने वाले जन यज्ञ, तप, दान के फल की इच्छा नहीं करते अपितु 'तत्' के उच्चारण से ये क्रियायें करतें हैं: २५

व्याख्या : शब्द ब्रह्म का संक्षिप्त रूप ॐ है। तत् से तात्पर्य है कि जो अर्पित किया जा रहा है वह सब ब्रह्म का है। ब्रह्म को अर्पित है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।२६।

भावार्थ : सत् शब्द का प्रयोग सभी श्रेष्ठ कार्यों के समय किया जाता है। हे पार्थ, उत्तम कर्म करते समय सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है: २६

व्याख्या : वेदों के मर्मज्ञ सत्यव्रत जी ने गीता की अपनी टीका में कहा है कि उपसर्ग 'श्रत्' से श्रद्धा शब्द बना है। श्रत् से ही 'सत्' बना है।

श्रद्धा से आरंभ होने वाले इस अध्याय का अंतिम भाग भगवान की 'सत्' शब्द की व्याख्या पर आधारित है। सत् और असत् के अंतर्गत कार्य अंतिम दो श्लोकों में भगवान बता रहे हैं।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।२७।

भावार्थ : यज्ञ, तप, दान में दृढ़ता से स्थिर रहना भी 'सत्' कार्य है और इनके निमित्त किये गये सभी कर्म 'सत्' कर्म कहे जाते हैं: २७

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।२८।

भावार्थ : हे पार्थ, बिना श्रद्धा के किये गये हवन, दान, तप, आदि सभी कर्म 'असत्' कहे जाते हैं। इन कर्म, का न तो इस लोक में कोई उपयोग है, न ही परलोक में कोई लाभ है: २८

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिनषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'श्रद्धात्रय विभाग योग' नामक सत्रहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

अठारहवां अध्याय

मोक्ष संन्यास योग

इस अध्याय का विषय 'मोक्ष और सन्यास' में है। प्राचीन भारतीय विचारधाराओं में मोक्ष को परम उपलब्धि माना गया है। अलग-अलग शास्त्रों ने मोक्ष पाने के अलग-अलग उपाय बताये हैं, गीता में सभी शास्त्रों का समन्वय किया गया है। इस अध्याय का दूसरा विषय संन्यास है। संन्यास का अर्थ है त्याग। ज्ञानमार्गी संन्यास का अर्थ कर्मों का त्याग, घर-बार का त्याग लगाते रहे हैं। ऐसे संन्यास भगवान श्रीकृष्ण को मान्य नहीं हैं। उन्होंने गीता द्वारा कहा है कि संन्यास का वास्तविक अर्थ है कर्तापन का त्याग म कर्मों के फल का त्याग।

कर्मों का त्याग करना सरल है, किंतु कर्म करके उसके फल का त्याग करना कठिन है। किंतु सृष्टि बिना कर्म से चल नहीं सकती इसलिए भगवान ने इस अध्याय में कर्म की सारी प्रक्रिया का विश्लेषण करके कर्म करने के लिए फिर से अर्जुन को प्रेरित किया है।

इस अध्याय का अन्य विषय 'स्वधर्म' है। यह धर्म वैदिक, जैन, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई जैसा, सांप्रदायिक धर्म नहीं है बल्कि व्यक्ति का मूल स्वभाव है। इस मूल स्वभाव के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के कर्म की दिशा निश्चित होती है।

गीता के चौदहवें अध्याय का विषय 'गुणत्रय विभाग' रहा है। सत्रहवें अध्याय का विषय श्रद्धात्रय विभाग रहा है। इन दोनों अध्यायों में प्रकृति के तीनों गुणों की पूरी चर्चा नहीं हो पायी। शेष विषयों पर इस अध्याय में भगवान ने अपने विचार प्रकट किये हैं। अन्य अनेक विषयों का पुनरावलोकन इन अध्याय में किया गया है। इस दृष्टि से यह अध्याय संपूर्ण गीता का सिंहावलोकन है।

इस अध्याय का आरंभ अर्जुन की इस जिज्ञासा से होता है:

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।१।

भावार्थ : अर्जुन बोला, है महाबाहो हे हृषीकेश, हे केशिदैत्य संहारक श्रीकृष्ण, मैं आपसे संन्यास और त्याग के तत्त्व को अलग-अलग जानना चाहता हूं: १

व्याख्या : अलग-अलग जानने से आशय है विश्लेषण करके जानना। यह इसलिए कि स्मृतिकारों ने जीवन के चीर चरण बताये हैं, जिन्हें चार आश्रम कहते हैं। इन आश्रमों के नाम हैं – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। यह संन्यास जीवन यात्रा के अंतिम चरण में संभव है। अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले भगवान अपने अवतार-काल में प्रचलित संन्यास तथा त्याग संबंधी अनेक विचारधाराओं का उल्लेख अगले दो श्लोकों में करते हैं:

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यास संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुक्याग विचक्षणाः।२।

भावार्थ : भगवान बोले, कुछ विद्वान् कामना के लिए किये जाने वाले कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और कुछ निपुण जन सभी कर्मों के फल के त्याग को त्याग

अर्थात् संन्यास कहते हैं: २

त्याज्य दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यमिति चापरे।३।

भावार्थ : अनेक विवेकी जन कहते हैं कि सभी कर्मों में दोष की आशंका रहती है इसलिए सभी कर्मों का त्याग करना चाहिए तथा अन्य जन यह कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए: ३

व्याख्या : सभी कर्मों का त्याग करने वाले अपने वाद के पक्ष में यह कहते थे कि– अच्छा या बुरा जो भी कर्म करोगे, उसका अच्छा या बुरा फल पुनर्जन्म का कारण बनेगा। हवन करते समय लकड़ी के साथ अनेक सूक्ष्म जीव जल जाते हैं। खेती के लिए हल चलाते समय कुछ जीवों के साथ हिंसा होती है। व्यापार में भी अपना लाभ करने के लिए अन्यों के लाभ का हनन होता है। युद्ध में स्पष्ट रूप से हत्या होती है इसलिए सभी कर्मों का त्याग करना मोक्षदायक है। इसी विचारधारा के बढ़ते प्रभाव के कारण लोग कर्मों से पलायन करने लगे थे। इसी विचारधारा का प्रभाव था कि कुरुक्षेत्र की रणभूमि में गांडीव का त्याग करते समय अर्जुन ने कहा था कि भिक्षा मांगकर गुजारा कर लूंगा, युद्ध नहीं करूंगा।

उस काल की सभी प्रचलित विचारधाराओं का सार बताकर भगवान अपना निश्चित मत विस्तार से व्यक्त करते हैं:

भगवान द्वारा स्पष्ट समाधान

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।४।

भावार्थ : हे भरतवंशियों में उत्तम, पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन, त्याग के विषय में तू मेरा स्थिर मत सुन। यह त्याग सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, तीन प्रकार का कहा गया है: ४

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्
यज्ञो दानं तश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।५।

भावार्थ : यज्ञ, दान और तप, ये कर्म त्याग करने योग्य नहीं हैं, इन्हें करना चाहिए, क्योंकि ये कर्म विवेकी जनों को पवित्र करने वाले हैं: ५

एतान्यपि तु कर्माणि संग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चत मतमुत्तमम्।६।

भावार्थ : हे पार्थ, यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म करके इनके फल की आसक्ति का त्याग करना सर्वोत्तम है। यह मेरा निश्चित मत है: ६

व्याख्या : सत्रहवें अध्याय में भगवान तीन-तीन प्रकार के तप, दान और यज्ञों का उल्लेख कर चुके हैं। अब तीन-तीन प्रकार के त्याग का विवरण देते हैं।

तीन प्रकार के त्याग

नियतस्थ तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।७।

भावार्थ : कर्त्तव्य कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है। यदि अज्ञानवश उनका

त्याग किया जाये तो ऐसा त्याग तामसिक त्याग कहलाता है: ७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।८।

भावार्थ : जो व्यक्ति इस भय से कर्मों का त्याग करता है कि सभी कर्म दुखदायी हैं और वे शारीरिक कष्ट के देने वाले हैं, ऐसा त्याग राजसिक त्याग है, इसका फल मोक्ष नहीं है: ८

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्याग: सात्त्विको मत:।९।

भावार्थ : हे अर्जुन, कर्म करते समय मन में कर्त्तव्य भावना रहे, उसके फल में आसक्ति न रहे। फल की आसक्ति का त्याग करना सात्त्विक त्याग है: ९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशय:।१०।

भावार्थ : जो व्यक्ति अशुभ कर्म से घृणा नहीं करता, शुभ कर्मों से अनुराग नहीं करता, ऐसा स्थिरबुद्धि व्यक्ति वास्तविक त्यागी है: १०

न हि देहभृता शक्यं त्यस्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।११।

भावार्थ : वास्तव में देहधारियों द्वारा कर्मों को पूर्ण रूप से छोड़ना संभंव नहीं है, इसलिए त्यागी उसे कहना चाहिए, जिसने कर्मों का फल छोड़ दिया है: ११

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।१२।

भावार्थ : कर्मों का फल अच्छा, बुरा तथा मिला-जुला, तीन प्रकार का होता है इनका फल मृत्यु के उपरांत उन्हीं जनों को भोगना पड़ता है जो किसी कामना की पूर्ति के लिए कर्म करते हैं। उन्हें नहीं भोगना पड़ता जो कर्मफल का त्याग कर देते हैं: १२

कर्मसिद्धि के पांच स्तंभ

पन्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।१३।

भावार्थ : हे महाबाहो अर्जुन, सभी प्रकार के कर्मों को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए, सांख्य शास्त्रों में पांच मूल कारण कहे गये हैं, उन्हें तू मुझसे समझ ले: १३

व्याख्या : किसी प्रयत्न, या किसी साधना की पूर्णता को सिद्धि कहते हैं। यहा 'सांख्य' का तात्पर्य, कपिल मुनि के 'सांख्य दर्शन' तक सीमित नहीं है। प्राचीन काल में ज्ञानी जनों के निष्कर्षों को सांख्य शास्त्रों के अंतर्गत लिया जाता था। भगवान ने गीता में सांख्य और ज्ञान को समान अर्थों में लियो है। कर्मसिद्धि के लिए पांच कारणों का उल्लेख भगवान अगले श्लोक में कर रहे हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पन्चमम्।१४।

भावार्थ : कर्म का एक कारण यह पांचभौतिक देह है, जिसे कर्म का आधार कहते हैं। दूसरा कारण आत्मा है, जिसे 'कर्त्ता' कहते हैं। तीसरा कारण इंद्रियां है, जिन्हें 'करण'

कहते हैं। चौथा कारण इद्रियों की क्रियायें हैं, जिन्हें 'चेष्टा' कहते हैं। पांचवा कारण भाग्य है, जिसे 'दैव' कहते हैं: १४

व्याख्या : बीज को वृक्ष बनने के लिए उचित मौसम, उचित मिट्टी, उचित धूप, उचित जल इत्यादि चाहिए। पौधे द्वारा गहरी जड़ पकड़ने से पहले उसके गिर्द बाड़ भी चाहिए, अन्यथा पशुओं द्वारा रोने जाने का खटका रहता है। फिर भी आवश्यकता नहीं कि बीज वृक्ष बन जाये क्योंकि अनेक अज्ञात कारण बीज के वृक्ष बनने के मध्य में बाधक हो सकते हैं। इसी पांचवें अस्पष्ट कारण को भगवान ने 'दैव' कहा है।

दैव की सीमा अनंत है। क्योंकि सृष्टि के बहुत से नियम ऐसे हैं जिनका व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो सकता। दीमक, बाढ़, भूंकप, ओलावृष्टि आदि अनेक परिस्थितियां बीज के वृक्ष बनने के मार्ग में बाधक हो सकती हैं। कर्मों के विषय में 'दैव' का अर्थ पूर्व जन्मों का फल भी हो सकता है, अनेक राजनैतिक कारण भी हो सकते हैं, उन सबका कारण हम एक सरल शब्द 'भाग्य' कह सकते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर:।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।१५।

भावार्थ : मनुष्य शरीर, वाणी और मन के माध्यम से उचित या अनुचित, जो भी कर्म करता है, वह इन पांचों कारणों के मेल का परिणाम होता है: १५

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु य:।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति:।१६।

भावार्थ : ऐसा होने पर भी जो व्यक्ति कर्म का कर्त्ता केवल आत्मा को मानता है, उसकी बुद्धि मलीन है। वह यथार्थ को नहीं समझता: १६

व्याख्या : तात्पर्य यह है कि कर्म को पूर्णता तक पहुंचाने के पांच कारणों में आत्मा केवल एक है। चार कारण अन्य हैं। इसलिए यदि सफलता का श्रेय केवल आत्मा लेना चाहे या विफलता का पश्चात्ताप आत्मा करे, इन दोनों स्थितियों को लाने का कारण अहंकार है जो प्रकृति की विशेषता है। इसी अहंकार के कारण लोग सुखी या दुखी होते हैं। इस यथार्थ को समझ लेने से आत्मा का कर्त्ता भाव लुप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के विषय में भगवान अगले श्लोक में कहते हैं।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।१७।

भावार्थ : कर्म का कर्त्ता होने का जिसे अहंकार नहीं, जिसकी बुद्धि कर्मफल में लिप्त नहीं होती, वह व्यक्ति सब लोकों को मारकर भी हत्यारा नहीं होता, न ही कर्म के कारण किसी बंधन में पड़ता है: १७

व्याख्या : ब्रह्म सभी लोकों का पालन भी करता है, उनका संहार भी करता है। उसे न तो पालन करने का पुण्य मिलता है, न संहार करने का पाप लगता है। अग्नि द्वारा वन, नगर आदि जल जाते हैं, वर्षा द्वारा फसलें बह जाती हैं, मकान ढह जाते हैं, इन प्राकृतिक, विपदाओं को कोई पापी नहीं कहता, यह इसलिए कि वर्षा, अग्नि आदि द्वारा लाई गयी विपदाओं में उनका अपना हित, अहित, स्वार्थ, अहंकार नहीं होता।

पाप, पुण्य, बंधन, मोक्ष, इन सबका कारण व्यक्ति का निजी लगाव या दुराव है। यदि व्यक्ति कर्मफल के प्रति आसक्ति छोड़ दे तो उसके किये हुए कर्म का फल न पाप

होता है न ही पुण्य होता है। यदि वह शुर्भ कर्म का पुण्य लेना चाहेगा तो उसे अशुभ कर्म के पाप का भागी भी होना पड़ेगा। कर्मबंधन से मुक्त होने का उपाय है अपने आपको प्रभु का औजार मानकर कर्म करना। जैसे जज के फैसले के अनुसार जल्लाद अपराधी को फांसी देता है, तो जल्लाद को हत्या का दोष नहीं लगता।

कर्म के अन्य अंग, उपांग

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविध: कर्मसंग्रह:।१८।

भावार्थ : ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ये तीनों कर्म की प्रेरणायें हैं। कारण, क्रिया और कर्ता, इन तीनों के मेल से कर्म संपन्न होता है: १८

व्याख्या : पहले कर्म का विचार आता है, इस विचार को यहां ज्ञान कहा गया है। जिस कर्म के विषय में विचार आया उसे यहां ज्ञेय कहा गया है। जिसने वह ज्ञान प्राप्त किया, उसे यहां कर्ता कहा गया है। ये तीनों कर्म की प्रेरणायें हैं। इन प्रेरणाओं को कार्यरूप में परिणित करने के लिए जिन तीन साधनने की जरूरत पड़ती है, वे हैं करण, क्रिया और कर्त्ता। करण वे औजार हैं, जिनसे कर्म संपन्न होता है, वे औजार इंद्रियां हैं। इंद्रियों की चेष्टायें क्रिया हैं। कर्त्ता आत्मा है। इन छहों के योग से कर्म संपन्न होता है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदत:।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।१९।

भावार्थ : सांख्य शास्त्रों में ज्ञान, कर्म और कर्त्ता के तीन-तीन प्रकार कहे गये हैं। वे प्रकार तीन गुणों, यथा सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण पर आधारित हैं। इनका विवरण भली प्रकार सुन: १९

तीन प्रकार के ज्ञान एवं कर्म

सर्वभूंतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विक।२०।

भावार्थ : जिस ज्ञान से व्यक्ति प्राणियों के अलग-अलग रूपों में एक अखंड अविनाशी ब्रह्म को समाया हुआ देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक ज्ञान मान: २०

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।२१।

भावार्थ : जिस ज्ञान द्वारा व्यक्ति अलग-अलग प्राणियों में अलग-अलग जीवात्मा मानता है, वह ज्ञान राजसिक है: २१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।२२।

भावार्थ : जो विपरीत ज्ञान आत्मा की बजाय शरीर को ही सर्वस्व मानकर उसीमें आसक्त रहता है, जो अन्य किसी तर्क को नहीं मानता, वह व्यर्थ और संकीर्ण ज्ञान तामसिक है: २२

नियतं संगरहितमरागद्वेषत: कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्चते।२३।

भावार्थ : शास्त्रों में बताये गये वे कर्म जिन्हें करते समय कर्त्ता को उस कर्म में

आसक्ति या विरक्ति नहीं होती और जिस कर्म को करते समय कर्त्ता को फल की इच्छा नहीं होती, वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है: २३

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।२४।

भावार्थ : जो कर्म विलास के इच्छुक जनों द्वारा अहंकारपूर्वक किया जाता है और जिस कर्म के करते समय श्रम लगता है, उसे राजसिक कर्म कहते हैं: २४

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्चते।२५।

भावार्थ : जिस कर्म को करते समय कर्ता अपनी शक्ति का विचार नहीं करता, उसके परिणाम के विषय में नहीं सोचता, उससे दूसरे को पहुंचने वाली पीड़ा और हानि का विचारु नहीं करता, ऐसा अज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म तामसिक कहलाता है: २५

तीन प्रकार का कर्ता

मुक्तंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्धयोर्निर्विकारः कर्तासात्त्विक उच्यते।२६।

भावार्थ : जो कर्त्ता कर्त्तापन की आसक्ति तथा कर्त्तापन के अहंकार से मुक्त है, जिसमें कर्म के प्रति धैर्य और उत्साह तो है किंतु कर्म की सफलता से उसे हर्ष नहीं होता और कर्म की विफलता से उसे शोक नहीं होता, ऐसा कर्त्ता सात्त्विक है: २६

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।२७।

भावार्थ : भोग-विलास का इच्छुक कर्त्ता, जो कर्मफल की कामना करता है, जो अपने लाभ के लिए दूसरे के कष्ट की परवाह नहीं करता, जिसके विचार अपवित्र है, जो सफलता से हर्षित होता है, असफलता से क्षुब्ध होता है, ऐसा कर्त्ता राजसिक है: २७

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकाऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।२८।

भावार्थ : कर्म करने में जो एकाग्र नहीं है, जिसमें फूहड़पन है, जो उद्दंड और कपटी है, जो दूसरे के कार्य में बाधा डालने वाला है, जो आलसी और निराश मन वाला है, जो थोड़े कार्य को पूरा करने में अधिक समय लगाता है, ऐसा कर्त्ता तामसिक कहलाता है: २८

बुद्धि और धीरता

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं मृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय।२९।

भावार्थ : हे धनंजय अर्जुन, प्रकृति के तीनों गुणों के अनुसार तू मुझसे बुद्धि और धीरता के तीन-तीन प्रकार के भेद अलग-अलग सुन: २९

व्याख्या : गीता में धीरता को धृति कहते हैं। मानसिक स्थिरता, धारणा शक्ति, ये सभी धीरता के रूप हैं। धीरता की विपरीत अवस्था अधीरता है।

तीन प्रकार की बुद्धि

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।

बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी। ३०।

भावार्थ : हे पार्थ, जो बुद्धि इस विषय का ठीक निर्णय करती है कि क्या करना उचित है, क्या करना अनुचित है। जो बुद्धि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को समझती है, जो बुद्धि यह जानती है कि किससे डरना है, किससे नहीं डरना है, जो बुद्धि बंधन और मोक्ष के कारण को समझती है, वह बुद्धि सात्त्विक है: ३०

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी। ३१।

भावार्थ : हे पार्थ, जो बुद्धि धर्म-अधर्म न कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की वास्तविकता को नहीं जानती है, वह बुद्धि राजसिक है: ३१

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी। ३२।

भावार्थ : हे पार्थ, जो बुद्धि अज्ञान से ढकी हुई है, जो अधर्म को धर्म मानती है, और हर बात का विपरीत अर्थ लगाती है, वह बुद्धि तामसिक हे: ३२

तीन प्रकार की धीरता (धारण शक्ति)

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी। ३३।

भावार्थ : हे पार्थ, जो धीरता मन, प्राण और इंद्रियों को भटकने नहीं देती, अपितु ध्यानयोग द्वारा आत्मा में स्थिर, रहती है वह धीरता सात्त्विक है: ३३

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी। ३४।

भावार्थ : जिस धीरता द्वारा व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से चिपका रहता है, वह धीरता राजसी है: ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुअति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी। ३५।

भावार्थ : हे पार्थ, दुष्ट व्यक्ति जिस धीरता द्वारा निद्रा, भय, शोक, निराशा, दुःख और उद्दंडता को नहीं छोड़ता, वह धीरता तामसिक है: ३५

तीन प्रकार के सुख

सुख त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति। ३६।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्। ३७।

भावार्थ : हे भरतश्रेष्ठ, अब तू मुझसे तीन प्रकार के सुखों के विषय में सुन। ध्यान आदि के अभ्यास से मनुष्य जिस सुख में डूब जाता है और जिससे दुःख का नाश होता है; जो सुख आरंभ में विष जैसा कड़वा लगता है, किंतु उसका परिणाम अमृत जैसा मधुर होता है, जो सुख आत्मतत्त्व को समझ लेने से प्राप्त होता है, वह सुख सात्त्विक है: ३६, ३७

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।३८।

भावार्थ : जो सुख इंद्रियों और उनके विषयों के संयोग से मिलता है, जो आरंभ में अमृत के समान मधुर लगता है और जिसका परिणाम विष के समान कटु होता है, उसे सुख को राजसिक कहते हैं: ३८

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।३९।

भावार्थ : जो सुख आरंभ से अंत तक व्यक्ति को भ्रम में डाले रखता है, जो सुख निद्रा, आलस्य और नशे के कारण उत्पन्न होता है, वह सुख तामसिक है: ३९

प्रकृति के तीनों गुणों का व्यापक पसारा

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्तं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।४०।

भावार्थ : पृथ्वी, आकाश, अथवा देवलोक, तथा अन्य किसी लोक में ऐसा कोई अस्तित्व नहीं जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त है: ४०

व्याख्या : प्रकृति के इन तीनों गुणों की कम व अधिक मात्रा से व्यक्तियों तथा देवताओं के भेद बनते हैं, उनके स्वभाव बनते हैं। इसी स्वभाव कों प्राचीन शास्त्रों में निजी धर्म बताया है। यह निजी धर्म वर्ण-व्यवस्था का आदि कारण है। इसका विवरण भगवान अगले श्लोकों में देते हैं:

स्वभाव, वर्ण और स्वधर्म

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।४१।

भावार्थ : हे परंतप अर्जुन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों के कर्मों का विभाजन प्रकृति के गुणों पर आधारित स्वभाव के अनुसार निश्चित हुआ है: ४१

शमो दमस्तपः शोच क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।४२।

भावार्थ : ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं, मन की स्थिरता, इंद्रियों का संयम, तप, अर्थात् शुभ कर्म के लिए कष्ट सहना, बाहर-भीतर की शुद्धता, क्षमाभाव, छल-छय से दूर रहना, आस्तिकता, ज्ञान-पिपासा तथा आत्मानुभव: ४२

व्याख्या : ये ही लक्षण सतोगुणी व्यक्ति के हैं। इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने का पात्र है।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।४३।

भावार्थ : क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं–शूरवीरता, तेजस्विता, धीरज, सचेत रहने का स्वभाव, युद्ध से पीठ न दिखाना, उदारता तथा प्रशासन करने की योग्यता: ४३

व्याख्या : तेजस्विता वह विशेषता है जो दूसरों को बरबस झुकने के लिए प्रेरित करती है। सतोगुण की अल्प मात्रा के साथ रजोगुण की प्रबलता सें यह स्वभाव बनता है। इन विशेषताओं से युक्त व्यक्ति क्षत्रिय कहलाने का पात्र है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्थापि स्वभावजम्।४४।

भावार्थ : खेती, गऊ पालन और व्यापार, ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं, सेवा संबंधी कर्म शूद्र के लिए स्वाभाविक है: ४४

व्याख्या : रजोगुण की प्रबलता के साथ तमोगुण की अल्प मात्रा से वैश्य स्वभाव बनता है। जिनमें कार्यकुशलता नहीं है तथा जिनमें अपने आप निर्णय करने की योग्यता नहीं है, वे व्यक्ति आज्ञापालन तथा सेवा कर्म के पात्र हैं। ऐसा स्वभाव तमोगुण की प्रबलता का परिणाम है। इस स्वभाव के व्यक्ति शूद्र कहलाने के पात्र हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।४५।

भावार्थ : अपने स्वाभाविक कर्म में लीन व्यक्ति मोक्ष रूपी परम सिद्धि प्राप्त करता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ व्यक्ति किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, वह मुझसे सुन: ४५

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्च सिद्धिं विन्दति मानवः।४६।

भावार्थ : जिस ब्रह्म से सभी जड़-चेतनादि की उत्पत्ति हुई है, जिस ब्रह्म से सारा विश्व व्याप्त है, उस ब्रह्म की पूजा अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है: ४६

व्याख्या : इन दोनों श्लोको का तात्पर्य है कि समाज के सभी अंग अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा भगवान को स्वीकार हैं। तप, संयम और ज्ञानार्जन करके अन्य वर्गों को दिशा निर्देश करना ब्राह्मण द्वारा की जाने वाली पूजा है। धर्मयुद्ध करना क्षत्रिय द्वारा की जाने वाली पूजा है। व्यापार में नैतिकता बरतना वैश्व द्वारा किया जाने वाला पूजन है। शूद्र का पूजन उसके सेवाभाव में निहित है।

विपरीत इसके ब्राह्मण सत्ताधारी को दिशा दिखाने की बजाय उसकी चापलूसी करने लगे, क्षत्रिय अपने बल द्वारा दूसरों को दबाये, वैश्य अपने धन से दूसरों का शोषण करने लगे, शूद्र अपने सेवा कार्य के लिए घूस ले, इस प्रकार समाज के सभी वर्ग जब अपने निश्चित कर्मों से विमुख होने लगते हैं तो उस स्थिति के निवारण के लिए भगवान को अवतार लेना पड़ता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।४७।

भावार्थ : अपना धर्म चाहे दोषयुक्त हो, पराये धर्म से श्रेष्ठ है, क्योंकि अपने स्वभाव के अनुसार किया जाने वाला कर्म करते हुए व्यक्ति को पाप नहीं लगता: ४७

व्याख्या : इस श्लोक के पहले भाग में धर्म शब्द हिंदू या मुस्लिम जैसे मजहब के अर्थ में नहीं आया है। धर्म से अभिप्राय व्यक्ति का निजी स्वभाव है।

भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ अत्यंत व्यापक है। उसी बात को प्रसंग के अनुसार पुनः स्पष्ट कर रहै है कि किसी वर्ग विशेष के कर्त्तव्य, किसी युग विशेष का कर्त्तव्य, आपत्तिकाल के कर्त्तव्य सभी धर्म के अंतर्गत आते हैं। यथा, कुल धर्म, गृहस्थ धर्म, आपद्धर्म इत्यादि।

पदार्थों के भी धर्म होते हैं, जैसे लोहे का गर्म होकर फैलना, ठंडा होकर सिकुड़ना इत्यादि।

इस श्लोक में भगवान प्रकृति के गुणों द्वारा निश्चित की हुई व्यक्ति की निजता को उसका धर्म बता रहे हैं। यथा आत्मसाधना करने वाले के लिए अहिंसा धर्म है। सैनिक का युद्ध में हिंसा करना धर्म है। दूसरे की निजता की नकल करके अपने स्वाभविक कर्म में दोष देखना उचित नहीं है। सैनिक प्रवृत्ति के व्यक्ति को युद्ध से हटाकर अध्ययन-मनन के लिए पर्वत की कंदरा में बिठा दीजिए, वह विक्षिप्त हो जायेगा। अंतर्मुखी व्यक्ति को व्यापार में लगा दीजिए, वह घाटा उठायेगा। वैश्य प्रवृति का व्यक्ति युद्ध में भी लेन-देन करके देश को बेच आयेगा। निर्णय अकुशल व्यक्ति को निर्णायक सीट पर बिठा दीजिए, वह अराजकता फैलायेगा। इसलिए भगवान ने स्वभाव के विपरीत कर्म को पाप कहा है, और स्वाभाविक कर्म को पापमुक्त कहा है। अपने मूल स्वभाव को समझे बिना दूसरे के स्वाभाविक कर्म को अच्छा मानना और अपने स्वाभाविक कर्म में दोष ढूँढ़ना उचित नहीं है। इस बात को उदाहरण सहित भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:।४८।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, अपना स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त होने पर भी उसका त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी कर्मों में कोई-न-कोई दोष रहता है, जैसे कि अग्नि धुएं से ढकी होने से दूषित नहीं हो जाती, अर्थात् धूम्रयुक्त अग्नि का कोई त्याग नहीं करता: ४८

भक्तियोग तथा कर्मयोग का उपहार

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।४९।

भावार्थ : जिसकी बुद्धि ने हर प्रकार की आसक्ति छोड़ दी है, जिसने अपने-आपको संयम द्वारा जीत लिया है, जिसकी लालसायें समाप्त हो गयी हैं, उस संन्यासी को नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है: ४९

नैष्कर्म्य की व्याख्या तीसरे अध्याय के चौथे श्लोक में दी गयी है।

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।५०।

भावार्थ : नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त करने वाला ज्ञानयोगी किस विधि से परम ब्रह्म को प्राप्त होता है, हे कुंतीपुत्र, इस विषय में मुझसे संक्षेप में सुन: ५०

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्लक्त्वा रागद्वेषौ खुदस्य च।५१।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस:
ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्यं समुपाश्रित:।५२।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।५३।

भावार्थ : जो व्यक्ति शुद्ध बुद्धि से युक्त अपने मन पर दृढ़ता से संयम रखता है,

इंद्रियों को उनके विषयों से हटाकर जो राग-द्वेष का त्याग करता है, जो एकांत और पवित्र स्थान पर निवास करता है, जो अल्पाहारी है, जो शरीर मन और वाणी पर नियंत्रण रखता है, जो ध्यान में लीन है और जिसने वैराग्य को अपना लिया है, जिसने अहंकार, बल का घंमड, काम क्रोध और संग्रह वृत्ति का त्याग कर दिया है, जिसने पदार्थों और प्राणियों से ममता छोड़ दी है, ऐसा शांत मन वाला व्यक्ति ब्रह्म में एकाकार होने के योग्य होता है: ५१, ५२, ५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।५४।

भावार्थ : ब्रह्म में एकाकार हुआ व्यक्ति सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है, सदा प्रसन्न रहता है, प्रतिकूल विषय पर शोक नहीं करता, किसी से कोई आकांक्षा नहीं करता। ऐसा करके वह मेरे परम भक्त का पद पाता है: ५४

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।५५।

भावार्थ : वह भक्त मेरी भक्ति द्वारा मेरे सगुण, निर्गुण सभी रूपों को यथार्थ में जान लेता है। वह भक्त मेरा ही अंग हो जाता है: ५५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाव्चतं पदमव्ययम्।५६।

भावार्थ : सभी कर्मों को निरंतर करता हुआ मेरा भक्त मेरी शरण में आकर मेरी कृपा से सनातन अविनाशी धाम में पहुंचता है: ५६

अर्जुन को भगवान का आदेश और उसे सांत्वना

ज्ञान, कर्म और भक्ति के सभी मार्गों पर विस्तार से बताने के उपरांत भगवान अर्जुन को आदेश देते हैं:

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।५७।

भावार्थ : मन से सभी कर्मों को मुझे अर्पित करके मुझमें एकाग्र होकर मुझमें चित्त लगा: ५७

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसिः।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।५८।

भावार्थ : मुझमें चित्त लगाकर मेरी कृपा से तू सभी बाधाओं को पार कर जायेगा। यदि तू अहंकार के कारण मेरे वचनों पर ध्यान नहीं देगा तो नष्ट हो जायेगा: ५८

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।५९।

भावार्थ : यदि तू अहंकार के कारण यह सोचे कि मैं युद्ध नहीं करूंगा तो तेरा यह विचार निराधार है, क्योंकि तेरी रजोगुणी प्रकृति तुझे युद्ध के लिए विवश करेगी: ५१

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।६०।

भावार्थ : हे कुंतीपुत्र, जो कर्म तू मोह के कारण नहीं करना चाहता, उस कर्म को तू

अपने स्वभाव से बंधे होने के कारण करेगा: ६०

व्याख्या : गीता के पहले अध्याय में अर्जुन ने शस्त्र त्याग दिए थे। उसी विषय की ओर संकेत करते हुए अर्जुन को उसका क्षत्रिय कर्त्तव्य बताया है। इस अध्याय में भगवान अर्जुन को भली प्रकार समझा चुके हैं कि युद्ध अथवा अन्य किसी कर्म को पूर्णता तक पहुंचाने के पांच कारणों में तेरी आत्मा का योगदान मात्र एक इकाई है। यदि तू केवल स्वयं को कर्त्ता मानता है तो यह तेरा मोह है। तेरा तात्कालिक उद्वेग जब शांत हो जायेगा तो तू अपने शस्त्र-त्याग पर पछतायेगा। उस समय पछताने से गया समय हाथ में नहीं आयेगा।

ईश्वर: सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।६१।

भावार्थ : हे अर्जुन, सभी प्राणियों के भीतर बैठा हुआ ईश्वर अपनी माया द्वारा उन्हें इस प्रकार घुमा रहा है, जिस प्रकार यंत्र को घुमाया जाता है: ६१

व्याख्या : प्रकृति की त्रिगुणमयी सृष्टि को माया कहते हैं। माया का एक अर्थ चमत्कार या जादू है। माया का दूसरा अर्थ है जिसका अपना आधार नहीं, जो चेतना के आधार परं टिकी हुई है। इसी कारण से वेदांती माया को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य मानते हैं, क्योंकि माया ब्रह्म की चेतन शक्ति पर टिकी हुई है। चेतन ब्रह्म अचेतन प्रकृति को घुमा रहा है। यह भाव इस श्लोक में छिपा है। यदि व्यक्ति यह सोचे कि करने-कराने वाला ईश्वर है, मैं ईश्वर का यंत्र हूं तो उसे न तो पाप लगता है न पुण्य मिलता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्श्यसि शाश्वतम्।६२।

भावार्थ : इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन, तू एक मात्र प्रभु की शरण ले प्रभुकृपा से तुझे परम शांति और परम धाम मोक्ष मिलेगा: ६२

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।६३।

भावार्थ : इस प्रकार मैंने तुझे गोपनीय से अति गोपनीय ज्ञान दिया। इस पर तू पूर्ण रूप से मनन करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर: ६३

व्याख्या : भगवान ने इसे गोपनीय ज्ञान इसलिए कहा है कि आत्मा, परमात्मा प्रकृति, पुरुष आदि आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान वेदों तथा वेद के अंगों, उपांगों शास्त्रों में बंद था। इन ग्रंथों को पढ़ने का अधिकार समाज के सभी वर्गों को नहीं था। इतना बताने के बाद भगवान ने करने न करने का निर्णय लेने का भार अर्जुन पर छोड़ दिया कि अब तू स्वतंत्र है। जो करना चाहे कर। इसके उपरांत भगवान अपने कथन की संपुष्टि के लिए पुन: कहते हैं:

सर्वगुह्यतमं भूय: श्रृणु मे परमं वच:।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।६४।

भावार्थ : मेरी इस अत्यंत गोपनीय, अति रहस्यमय श्रेष्ठ वाणी को तू फिर से सुन, क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय है, इसलिए मैं तेरे भले के लिए तुझे कहूंगा: ६४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।६५।

भावार्थ : मुझमें अटूट मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर, तू मेरा प्रिय है, अत: मैं तुझे विश्वास दिलाता हूं कि तू मुझे पायेगा: ६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:।६६।

भावार्थ : धर्मों के नाम पर चलाये हुए चक्करों में तू मत पड़ तू मेरी शरण में आ, मैं तुझे पापों से मुक्त कर दूँगा, तू किसी बात की चिंता मत कर: ६६

गीता-ज्ञान की पात्रता तथा गीता का माहात्म्य

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।६७।

भावार्थ : जिस व्यक्ति में तप की क्षमता नहीं है, जिसमें भक्तिभाव नहीं है, जिसमें इस ज्ञान को सुनने की इच्छा नहीं है, जो मेरी निंदा करता है, उसे यह ज्ञान कभी नहीं देना चाहिए: ६७

व्याख्या : चिकित्सक पर विश्वास न हो तो उसकी अमृत तुल्य दवाई भी प्रभाव नहीं करती। अज्ञानी व्यक्ति उलटे रखे हुए घड़े की भाति है, जिसमें भौतिकता की अविद्या पहले से भरी हुई है। भरे हुए पात्र में कुछ नहीं डाला जा सकता। नास्तिक यदि सुनेगा भी तो दोष ढूंढने के लिए, ऐसे व्यक्ति पर समय नष्ट करना व्यर्थ है।

यहां यह प्रश्न सहज की उपजता है कि क्या भगवान नास्तिक को ऊपर नहीं उठाना चाहते? इसका उत्तर यह है कि आसुरी स्वभाव का व्यक्ति जिस समय सफलता के शिखर पर होता है, उस समय वह स्वयं को सर्वोच्च मानकर किसीकी नहीं सुनता; वह किसी अन्य भौतिक विचारधारा के गुरुत्वाकर्षण से बंधा होता है। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति उसके कान बंद होते हैं, वह व्यक्ति जब कभी अपने शिखर से गिरता है, अथवा अपनी विचारधारा से निराश होता है उस समय वह प्रभु चरणों में आता है। उस समय वह ज्ञान प्राप्त करने का पात्र हो जाता है।

जहां भगवान कुपात्रों को गीता-ज्ञान देने का निषेध कर रहे हैं वहां गीता-ज्ञान के पात्रों में प्रचार करने का फल भगवान अगले श्लोकों में बता रहे हैं:

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशय:।६८।

भावार्थ : पुत्र में भक्ति रखता हुआ जो व्यक्ति इस सर्वोच्च रहस्य को मेरे भक्तों पर प्रकट करेगा, वह निःसंदेह मेरे स्वरूप में आ मिलेगा: ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे: प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो।६९।

भावार्थ : गीता-ज्ञान को कहने वाला इस पृथ्वी पर मेरा सबसे अधिक प्रिय पात्र है और वह मेरा सदा प्रिय रहेगा। मेरे लिए उससे अधिक प्रिय और कोई न होगा: ६९

अध्येष्यते च य इमं धमर्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञोन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मति:।७०।

भावार्थ : जो व्यक्ति मेरे-तेरे इस धर्म-संवाद का अध्ययन-मनन करेगा, वह मानो ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरी पूजा करेगा, ऐसा मेरा मत है: ७०

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो कर:।

सोऽपि मुक्तः शुभाल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।७१।

भावार्थ : जो व्यक्ति इस ज्ञान में दोष ढूंढने की बजाय श्रद्धायुक्त होकर इस ज्ञान का श्रवण करेगा, वह मुक्त होकर उन शुभ लोकों को प्राप्त करेगा, जहां शुभ कर्मों वाले पहुंचते हैं: ७१

संपुष्टि

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोह प्रनष्टस्ते धनंजय।७२।

भावार्थ : हे पार्थ, क्या तूने मेरे इस ज्ञान को एकाग्रचित्त से सुना। हे धनंजय, क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह पूरी तरह नष्ट हुआ: ७२

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽसिम गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।७३।

भावार्थ : अर्जन बोला, हे अच्यूत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मेरे सप्त संस्कारों की स्मृति लौट आयी है। मेरे संदेह दूर हो गये हैं। मैं अब स्थिर बुद्धि से आपकी आज्ञा का पालन करूंगा: ७३

व्याख्या : यहां स्मृति लौटना शब्द अति गहन अर्थ रखता है। हमारे इस जन्म की जानकारी हमारे मस्तिष्क के स्मृति-केंद्रों में रहती है, जो प्रेरणा पाकर प्रकट हो जाती है। पूर्व जन्मों की मुख्य स्मृतियां संस्कार बन जाते हैं। वे संस्कार, मन, बुद्धि और आत्मा के साथ नये जन्म में प्रवेश करते हैं। अंतःकरण में सुप्तावस्था में रहते हैं। प्रेरणा पाकर वे संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। उन्हीं संस्कारों के जाग्रत होने को अर्जुन ने स्मृति का लौटना कहा है। अर्जुन की जिज्ञासा उसके अनेक जन्मों के सुप्त संस्कारों का परिणाम है, जो भगवान की वाणी से जाग्रत हो गयी।

यहां अर्जुन ने भगवान को 'अच्युत' नाम से संबोधित किया है। अच्युत का अर्थ है 'अटल', जिसमें स्थिरता है। ऐसे स्थिरचित्त प्रभु की वाणी सुनकर अर्जुन की मानसिक चंचलता समाप्त हो गयी और उसने कहा, मैं स्थिर बुद्धि से आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।

गीता का पहला अध्याय गाता-ज्ञान की भूमिका है। और इसके अंतिम अध्याय के अगले पांच श्लोक, पहले अध्याय की कथा का समापन करने के लिए हैं, उन्हें हम परिशिष्ट शीर्षक से आगे दे रहे हैं।

परिशिष्ट

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमदभुतं रोमहर्षणम्

भावार्थ : संजय धृतराष्ट्र से बोला, इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव और महात्मा पार्थ के इस अद्‌भुत और रोमांचकारी संवाद को सुना: ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्‌गुह्यमहं परम्
योगंयोगेव्शरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।७५।

भावार्थ : व्यासजी की कृपा से मैंने इस परम गोपनीय योग को साक्षात् योगेश्वर के मुख से स्वयं सुना।७५।

व्याख्या : यहां योग शब्द का अर्थ पतंजलि के योग दर्शन तक सिमित नहीं है। लोकमान्य तिलक के मतानुसार योग का सामान्य अर्थ युक्ति, क्रम करने की कुशलता या शैली है।

हमने गीता के आरंभ में कहा है कि योग का अर्थ अत्यंत व्यापक है। यथा प्रसंग, विषय, मेल, एकाग्रता, तर्क, उचित विचार आदि ये सब शब्द योग की सीमा में आते हैं। यहां संजय की वाणी के अनुसार योग का अर्थ यह बनता है, 'तर्कसंगत उचित विचार'। इस श्लोक में संजय ने भगवान को योगेश्वर कहा है। भगवान सभी युक्तियों के स्वामी अर्थात ईश्वर हैं, इसलिए उनके प्रति यह विशेषण संगत है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्य हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।७६।

भावार्थ : हे राजन्, भगवान केशव के और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य संवाद को बार-बार स्मरण करके मैं हर्षित हो रहा हूं: ७६

तच्च संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्दाजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।७७।

भावार्थ : हे राजन, हरि के चमत्कारिक रूप का स्मरण करके मुझे बड़ा आश्चर्य होता है, और मैं बार-बार हर्ष से पुलकित होता हूं: ७७

व्याख्या : संजय ने भगवान को 'हरि' विशेषण देकर धृतराष्ट्र को बताया है। कि श्रीकृष्ण पापों और कष्टों का हरण करने वाले हैं। जिस चमत्कारिक रूप का स्मरण करके संजय पुलकित हो रहा है, वह भगवान का विराट रूप दर्शन है, जिसका विवरण ग्यारहवें अध्याय में आया है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।७८।

भावार्थ : जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं लक्ष्मी है, विजय है, वैभव है और नीति को स्थिर निवास है: ७८

व्याख्या : गीता के इस अंतिम श्लोक में संजय ने धृतराष्ट्र को सचेत किया है कि युद्ध जीतने के लिए राजनीति और युक्ति भी चाहिए। कौरवों के पास सैनिकों की संख्या अधिक है किंतु गांडविधारी अर्जुन के बल के साथ युक्तियों के स्वामी श्रीकृष्ण पांडवों के पक्ष में हैं। संजय इस उक्ति द्वारा धृतराष्ट्र को युद्ध के परिणाम की पूर्व सूचना दे रहा है कि तुम्हारे पुत्रों की हार और पांडवों की विजय निश्चित है।

इतिहास साक्षी है कि संजय की पूर्व सूचना सत्य सिद्ध हुई। पांडवों की सात अक्षौहिणी सेना के सामने कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना हार गयी।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसांवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र-विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'मोक्ष संन्यास योग' नामक अठारहवां अध्याय संपूर्ण हुआ।

दयानंद वर्मा रचित कुछ अन्य पुस्तकें

विचारोत्तेजक लेखों का नवीन संग्रह

ब्रह्मज्ञान का यथार्थ

अलौकिक समझे जाने वाले विषयों की वास्तविकता जानने के लिए यह पुस्तक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है तथा मानव मन के ऐसे अनेक पक्षों का रहस्य प्रकट करती है जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञान ने 'अचेतन' घोषित किया हुआ है।

इस पुस्तक की विषय सूची:--

* क्या ब्रह्मज्ञान आध्यात्मिक विषयों तक सीमित है?
* रीति रिवाजों पर आक्षेप करने से पहले तनिक सोचिए।
* धन-बल और बुद्धि-बल में विरोध क्यों?
* मन की तह तक पहुंचने के नये सूत्र।
* विचारों की दृढ़ता और कट्टरता में अंतर।
* क्या ज्योतिष अंध-विशवास है?
* मानव पांचतत्त्व का पुतला कैसे?
* क्या अहंकार सचमुच बुरा है?
* इतिहास और पुराण में कितना अंतर?

आत्मोन्नति की प्रेरणा देने वाली रोचक पुस्तक

मानसिक समस्याएं और हम

हमारी रोजगार सम्बन्धी तथा निजी समस्याओं के पीछे मानसिक कारण होते हैं। यह पुस्तक उन कारणों को समझने और निवारण के उपाय सुझाती है।

ध्यान योग: कुछ सरल विधियां

मन को शांत करने और तनाव मुक्त होने के लिए ध्यान एक अनमोल औषधि है। इस पुस्तक मे ध्यान की कुछ ऐसी सरल विधियां बतायी गयी हैं कि उन्हें हर आयु के स्त्री पुरुष अपने अनुभव में ला सकते हैं।

दयानंद वर्मा रचित कुछ साहित्यिक कृतियां:

कलजुगी उपनिषद्

आज के समाज में उठने वाले हर क्षेत्र के प्रश्नों के उत्तर उपन्यास के रूप में। इस उपन्यास के विषय में साहित्यकार कमलेश्वर ने कहा है "यह उपन्यास अपने समय का दस्तावेज है", व्यंग्यकार अशोक चक्रधर ने कहा है "मैंने कोई भी रचना सांस रोक कर इतनी रुचि से नहीं पढ़ी जितनी कि 'कलजुगी उपनिषद'"।

हिंदी अकादेमी दिल्ली द्वारा पुरस्कृत।

पश्चिम के तीन रंग

यह पुस्तक दयानंद जी के यूरोप यात्रा के संस्मरणों पर आधारित है।

– यूरोप से चली सैक्स की आँधी आज से चालीस वर्ष पहले भारत के लिए कहानियों जैसी थी। आज वह आँधी भारत तक पहुंच चुकी है किन्तु उस समय दयानंद वर्मा के साथ कोपनहैगन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर के साथ हुआ संवाद एक इतिहास है। वह संवाद इस पुरतक में दिया गया है।

– बर्लिन नगर को दो भागों मे विभाजित करने वाली दीवार का आज नामो-निशान मिट चुका है, इस यात्रा-विवरण में उस दीवार से संबंधित अनुभूतियां आज भी रोमांचित करती है।

– यह पुस्तक पंजाब सरकार के प्रथम पुरस्कार से सम्मानित है।

जिंदाबाद मुर्दाबाद

इस उपन्यास को पढ़ते समय आपके सामने धर्म, राजनीति और मनोविज्ञान की परतें खुलती चली जाएंगी। उपन्यास जगत में एक नया प्रयोग।

नयी सोच की कहानियां

ये कहानियां मानव स्वभाव को समझने की सूझ देती हैं। यह सूझ व्यक्ति को उन्नति के मार्ग की ओर ले जाने में सहायक है। रोचक इतनी कि एक बार पढ़ना आरंभ करेंगे तो छोड़ने का मन न मानेगा।

दयानंद वर्मा रचित
सैक्स-साईकालोजी पर दो युगांतरकारी पुस्तकें

यौन-व्यवहार-अनुशील

* *1968* मे जब पहली बार यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी तो: मनीषी श्री रजनीश (ओशो) ने कहा था: हिंदी में इस भांति की विचारोत्तेजक पुस्तकें कहां हैं?
यौन विशेषज्ञ डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा के शब्दों में: यदि मैं किसी पुरस्कार-समर्पण-समिति का निर्णायक होता तो इस पुस्तक को सर्वोच्च पुरस्कार के योग्य ठहराता...
* राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर के कथनानुसार, "इस पुस्तक के लेखन का उद्देश्य पवित्र और उपयोगी है।"
* इस पुस्तक में पश्चिमी देशो में बढते हुए यौन-स्वेच्छाचार के परिणाम की जो आशंकाए व्यक्त की गई थीं वे आज 'एड्स' की महामारी के रूप में विश्व के सामने हैं और 'विश्व-स्वास्थ्य-संगठन' (WHO) के सचेतक 'यौन क्रांति' से उपजी समस्याओं पर पुनर्विचार के लिए बाध्य हो गए हैं।

कामभाव की नयी व्याख्या

यह पुस्तक काम के मानसिक तथा शरीर संबंधी पक्षों पर नयी जानकारी देती है। इस जानकारी के आधार पर स्त्री-पुरषों की सैक्स सम्बन्धी बहुत सी समस्याएं हल की जा सकती हैं।

पुस्तक के विषय में कुछ प्रशंसा–पत्रों का सार

... अंग्रेजी तथा हिंदी की कम संबंधी अन्य पुस्तकों में ऐसी नवीन जानकारी मैंने नहीं पायी।

–अमृत लाल नागर, साहित्यकार, लेखक

... लेखक ने कम-संबंधी सभी पक्षों का विवेचन किया है। जिज्ञासु जनों के लिए पुस्तक रुचिकर तथा ज्ञानवर्द्धक है।

-- आचार्य प्रियव्रत शर्मा, प्रमुख : आयुर्वेद संकाय,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

... इसी लेखक ने इसके पहले अपने पुस्तक 'यौन व्यवहार अनुशीलन' में 'अनुकूलन प्रवृत्ति' की स्थापना की थी। यह पुस्तक उसी स्थापना को शिद्ध करने की नयी कड़ी है और लेखक की निरंतर खोज का परिणाम है।

डा. द्वारकाप्रसाद, मनोचिकित्सक, रांची

— चार्ट, तथा चित्रों द्वारा इस पुस्तक में विषय को भलीभांति समझाया गया है।

वैज्ञानिक हस्तरेखा विद्या पर
दयानंद वर्मा रचित पुस्तकें

पामिस्ट्री के गूढ़ रहस्य

हस्तरेखा विद्या सीखने के इच्छुक विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए इंस्टीच्यूट के प्रमुख हस्तरेखा वैज्ञानिक श्री दयानंद ने जो लैक्चर नोट्स तैयार किये थे, यह पुस्तक उन नोट्स पर आधारित है। सैंकड़ो चित्रों से भरी यह पुस्तक पढ़ कर आप यह विद्या सीख सकते हैं।

पामिस्ट्री के अनुभूत प्रयोग

आप हस्तरेखा विद्या के जिज्ञासु हों अथवा आपने इस विद्या का गहरा अध्ययन किया हुआ हो, दोनों दशाओं में आप इस पुस्तक में बहुत कुछ नया पाएंगे।

इस पुस्तक में विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के 20 जोड़े हाथों के प्रिंट देकर हस्तरेखा विद्या का व्यावहारिक ज्ञान दिया गया है।

50 हैडप्रिंट: फलादेश तथा उपाय सहित

इस पुस्तक में पच्चास व्यक्तियों के हैंड प्रिंट देकर उनके भविष्य-संबंधी प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, तथा बाधा निवारण के आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक उपाय देकर इस विद्या का प्रेक्टीकल ज्ञान दिया गया है।

पामिस्ट्री के वैज्ञानिक और व्यावहारिक सूत्र

यह पुस्तक हस्तरेखाओं के विषय में फैली हुई बहुत सी भ्रांतियों का निवारण करती है और इस विद्या का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करती है।

Contents

1. आवरण पृष्ठ
2. मुखपृष्ठ
3. प्रतिलिप्यधिकार पृष्ठ
4. क्रम
5. व्याख्याकार का निवेदन
6. गीता-ज्ञान की पृष्टभूमि
7. पहला अध्याय: अर्जुन विषाद योग
8. दूसरा अध्याय: सांख्ययोग
9. तीसरा अध्याय: कर्मयोग
10. चौथा अध्याय: ज्ञान, कर्म, संन्यास योग
11. पांचवां अध्याय: कर्मसंन्यासयोग
12. छठा अध्याय: ध्यानयोग
13. सातवां अध्याय: ज्ञान-विज्ञान
14. आठवां अध्याय: अक्षर ब्रह्म योग
15. नवां अध्याय: राजविद्या राजगुह्य योग
16. दसवां अध्याय: विभूतियोग
17. ग्यारहवां अध्याय: विश्वरूप दर्शन योग
18. बारहवां अध्याय: भक्तियोग
19. तेरहवां अध्याय: क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग
20. चौदहवां अध्याय: गुणत्रय विभाग योग
21. पंद्रहवां अध्याय: पुरुषोतम योग
22. सोलहवां अध्याय: दैवासुर संपद् विभाग योग
23. सत्रहवां अध्याय: श्रद्धात्रय विभाग योग
24. अठारहवां अध्याय: मोक्ष संन्यास योग

List of Pages

1. 1
2. 2
3. 3
4. 4
5. 5
6. 6

7. 7
8. 8
9. 9
10. 10
11. 11
12. 12
13. 13
14. 14
15. 15
16. 16
17. 17
18. 18
19. 19
20. 20
21. 21
22. 22
23. 23
24. 24
25. 25
26. 26
27. 27
28. 28
29. 29
30. 30
31. 31
32. 32
33. 33
34. 34
35. 35
36. 36
37. 37
38. 38
39. 39

40. 40
41. 41
42. 42
43. 43
44. 44
45. 45
46. 46
47. 47
48. 48
49. 49
50. 50
51. 51
52. 52
53. 53
54. 54
55. 55
56. 56
57. 57
58. 58
59. 59
60. 60
61. 61
62. 62
63. 63
64. 64
65. 65
66. 66
67. 67
68. 68
69. 69
70. 70
71. 71
72. 72

73. 73
74. 74
75. 75
76. 76
77. 77
78. 78
79. 79
80. 80
81. 81
82. 82
83. 83
84. 84
85. 85
86. 86
87. 87
88. 88
89. 89
90. 90
91. 91
92. 92
93. 93
94. 94
95. 95
96. 96
97. 97
98. 98
99. 99
100. 100
101. 101
102. 102
103. 103
104. 104
105. 105

106. 106
107. 107
108. 108
109. 109
110. 110
111. 111
112. 112
113. 113
114. 114
115. 115
116. 116
117. 117
118. 118
119. 119
120. 120
121. 121
122. 122
123. 123
124. 124
125. 125
126. 126
127. 127
128. 128
129. 129
130. 130
131. 131
132. 132
133. 133
134. 134
135. 135
136. 136
137. 137
138. 138

139. 139
140. 140
141. 141
142. 142
143. 143
144. 144
145. 145
146. 146
147. 147
148. 148
149. 149
150. 150
151. 151
152. 152
153. 153
154. 154
155. 155
156. 156
157. 157
158. 158
159. 159
160. 160
161. 161
162. 162
163. 163
164. 164
165. 165
166. 166
167. 167
168. 168
169. 169
170. 170
171. 171

172. 172
173. 173
174. 174
175. 175
176. 176
177. 177
178. 178
179. 179
180. 180
181. 181
182. 182
183. 183
184. 184
185. 185
186. 186
187. 187
188. 188
189. 189
190. 190
191. 191
192. 192
193. 193
194. 194
195. 195
196. 196
197. 197
198. 198
199. 199
200. 200
201. 201
202. 202
203. 203
204. 204

205. 205
206. 206
207. 207
208. 208
209. 209
210. 210
211. 211
212. 212
213. 213
214. 214
215. 215
216. 216
217. 217
218. 218
219. 219
220. 220
221. 221
222. 222
223. 223
224. 224
225. 225
226. 226
227. 227
228. 228
229. 229
230. 230
231. 231
232. 232
233. 233
234. 234
235. 235
236. 236
237. 237

238. 238
239. 239
240. 240
241. 241
242. 242